ओ३म्

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

मनोरंजन पुस्तकमाला-४९

काशी नागरीप्रचारिणी सभा की ओर से

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

प्राचीन आर्य-वीरता

अर्थात्

राजपूताने के वीरों के चरित्र

लेखक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्म्मा

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

प्रथम बार १०००] १९२७ [मूल्य १)

हमारा विचार

भारतवर्ष के इतिहासरूपी विशाल समुद्र में जिसने अवगाहन किया है, उसके सामने एक चित्ताकर्षक दृश्य उपस्थित होता है। वह चित्ताकर्षक दृश्य है—भारत की वीरता का मुख उज्ज्वल करनेवाले सूर्य्य और चंद्रवंशी क्षत्रियों के चिरस्मरणीय वीरोचित चरित्र। रामायण और महाभारत जैसे भारत के प्राचीनतम इतिहास-ग्रंथों में भी हम उन्हीं सूर्य्य और चंद्रवंशी वीरवरों के अतुलित बल-पराक्रम, अमित साहस और प्रबल प्रताप के वर्णन पाते हैं, जिनसे उन महापुरुषों की अनुपम और अक्षय कीर्ति आज तक ज्यों की त्यों सुरक्षित है। उन्हीं प्रातःस्मरणीय वीरपुंगवों के कई एक वंशधरों के वीरोचित कार्य्यों का वर्णन इस छोटी सी पुस्तक में लिखा गया है, जिसे पढ़कर, हमारे पाठक अवश्य कहेंगे कि ये वीरशिरोमणि भी अपने पूर्व पुरुषों के समान यशस्वी होने के सर्वथा योग्य हैं। यदि कहीं वे लोग वाल्मीकि अथवा वेदव्यास के समय में उत्पन्न हुए होते, तो वे टाड साहब लिखित राजस्थान के इतिहास ही में नहीं, प्रत्युत समस्त संसार में अमित यश और गौरव के पात्र बनते। उनके यशरूपी मार्तंड की किरणों से सारा पृथिवीमंडल जगमगाने लगता। इसमें संदेह नहीं कि यदि ये लोग उक्त महात्माओं के समय में उत्पन्न हुए होते तो

अवश्य कहेंगे कि इस समय के राजस्थान के भिन्न भिन्न राज्यों के अधिपतियों में, ऐसे अवगुणों की भी प्रधानता विद्यमान थी जो हिंदू साम्राज्य के अधःपात के पूर्व, महाभारत के समय के क्षत्रियों में पाए जाते हैं। हा! उस समय कितना दुःख, क्षोभ और मनस्ताप होता है जिस समय हम पढ़ते हैं कि राजस्थान के अन्य हिंदू नरेश मेवाड़ के राणाओं से इसलिये विद्वेष करने लगे थे कि उन्होंने मुगल सम्राटों के साथ रोटी-बेटी का संबंध स्थापित करना मृत्यु से भी अधिक गर्हित समझ रखा था। एक नकटे ने सब को नकटा बनाने के लिये नाकवालों को जिस प्रकार सताया था, उसे पढ़कर मन क्षुब्ध हो जाता है। किंतु जिस प्रकार अग्नि में तपाने पर सुवर्ण में एक प्रकार की विमल कांति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार यद्यपि उन सताए हुए हिंदू नरेशों की विमल कीर्ति-कौमुदी आज राजस्थान के इतिहास के पृष्ठों को आलोकित कर रही है, तथापि उन नकटों की कुकृत्य-कालिमा भी राजस्थान के इतिहास के पृष्ठों को अंधकारमय बना रही है। हमारे हृदय में उन सताए हुओं के प्रति जितनी श्रद्धा है, उतनी ही उन स्वदेशद्रोहियों के लिये घृणा भी है। यद्यपि वे अपने एक भाई का सर्वनाश कर तत्कालीन मुगल सम्राट् द्वारा सम्मानित हो सकते थे, तथापि उनका वह मान जातीय अपमान के नीचे सदा के लिये ढक गया। क्योंकि व्यक्तिगत स्वार्थ सर्वसाधारण के स्वार्थ के सामने सदा से हेय और तुच्छ समझा जाता है। भारतवर्ष के हिंदू राजाओं और अन्य शक्ति-

प्राप्त जातियों एवं संप्रदायों के इतिहास की आलोचना करने से और भी अधिक दुःख होता है। क्योंकि हम देखते हैं कि जब एक जाति गिरी और दूसरी का उत्कर्ष हुआ, तो दूसरी जाति ने पहली को करावलंब न देकर और भी नीचे गिराया। जिस समय राजपूताने के नरेशों की दशा बिगड़ी और दक्षिण के मरहठों का भाग्योदय हुआ, उस समय दूसरों ने पहलों को सहारा देकर अपने बल को पुष्ट न किया प्रत्युत उनकी कंकालावशिष्ट देह के अवशिष्ट रक्त को चूसकर उन्हें सदा के लिये पराधीन एवं पददलित जाति बना दिया। इसी प्रकार जब मरहठों का सौभाग्य-सूर्य्य अस्ताचलगामी हुआ और सिक्खों का सौभाग्य-सूर्य उदयाचल पर उदय हुआ, तब इन्होंने मरहठों का साथ न दे अपनी ढाई चावल की खिचड़ी अलग ही पकाई। इनके इन व्यक्तिगत स्वार्थों का जो दुष्परिणाम भारतवर्ष और हिंदू जाति को भोगना पड़ा, वह किसी से छिपा नहीं है और उसे स्पष्ट बतलाने की आवश्यकता होने पर भी बतलाने की सामर्थ्य तक हममें नहीं रह गई। सारांश यह है कि इस पुस्तक को पढ़कर पाठकों के मन में राजस्थान के हिंदू नरेशों की वीरता के संबंध में जितना जातीय अभिमान उत्पन्न होगा, उतना ही उनके स्वार्थ-मूलक आचरणों और अत्याचारों को पढ़कर क्षोभ उत्पन्न होगा।

परंतु इस पुस्तक को आद्योपांत पढ़ने से हमारे पाठक समयानुकूल तथा अपने शक्त्यनुसार इस पुस्तक में वर्णित

घटनाओं के अंतिम परिणामों को निकालकर बहुत कुछ लाभ भी उठा सकते हैं। यह लाभ उस लाभ से कम न होगा, जो किसी देश के ऐतिहासिक पुरुषों की कृतियों को पढ़कर उठाया जा सकता है।

यह पुस्तक हमने टाड्स राजस्थान के उस हिंदी अनुवाद के आधार पर संगृहीत की है, जो श्रीयुक्त सेठ खेमराज श्रीकृष्ण-दास जी के श्रीवेंकटेश्वर यंत्रालय से प्रकाशित हुआ है। टाड साहब ने इस अमूल्य ग्रंथ की रचना कर हिंदू जाति को जो अनुपम उपहार दिया है, उसके लिये हिंदू जाति उनकी सदा कृतज्ञ रहेगी। परंतु हमारे पाठक एक बात सुनकर विस्मित होंगे। वह यह है कि हिंदी के एक सुयोग्य ऐतिहासिक लेखक ने मुसलमानों द्वारा लिखित कतिपय ऐसे ग्रंथ संगृहीत किए हैं, जिनके आधार पर टाड साहब के चित्रित श्रद्धेय वीरों के चरित्र निर्मूल और अलीक सिद्ध किए जा सकते हैं। उनसे हमारी यह विनम्र प्रार्थना है कि वे उन ग्रंथों को उसी प्रकार मुँह बंद किए पड़े रहने दें, जिस प्रकार वे उस समय पड़े थे जिस समय टाड साहब अपने इस ग्रंथ-रत्न के लिये सामग्री एकत्र कर रहे थे। क्योंकि आजकल के प्रचलित इतिहासों की बदौलत नवयुवकों के हृदय में उनके सर्वमान्य रामकृष्णादि के प्रति भी श्रद्धा नहीं रह गई है। तब यदि टाड साहब की कृपा से वे महाराणा प्रताप अथवा महाराणा राजसिंह में श्रद्धा करने लग गए हैं, तो उस श्रद्धा का विसर्जन करना

नैतिक दृष्टि से ही क्यों न हो, अवश्य ही अच्छा कार्य नहीं कहा जा सकता।

इसके अतिरिक्त एक और भी बात ध्यान देने योग्य है। अनेकों का मत है कि मुसलमान इतिहास-लेखकों ने प्रायः किसी न किसी अपने अन्नदाता की प्रेरणा अथवा अपने समय के अपने प्रभु के अनुग्रहभाजन बनने के अभिप्राय ही से अपने ग्रंथ प्रणयन किए हैं। ऐसी दशा में ऐसे क्षुद्र उद्देश्य से लिखे हुए ऐतिहासिक ग्रंथ कहाँ तक मान्य समझे जा सकते हैं, इसका निर्णय हम उन्हीं पर छोड़ते हैं। दूसरी बात एक और भी ध्यान देने योग्य है। मुसलमान इतिहास-लेखकों ने प्रायः पक्षपात से अपनी रचनाओं को दूषित कर रखा है। उदाहरण के लिये हम सैर-उल-मुताखरीन को लेंगे। नंदकुमार के मामले में इस ग्रंथ में एक ऐसी अलीक बात लिखी है, जिसको मैकाले कहते हैं कि अन्य किसी इतिहास-लेखक ने नहीं लिखा। वह बात यह है कि नंदकुमार के मारे जाने के बाद उसके घर से एक ऐसा बाक्स बरामद हुआ, जिसमें बंगाल के प्रसिद्ध प्रसिद्ध भद्र पुरुषों और उच्च पदाधिकारियों की बनावटी मोहरें थीं। इसी प्रकार अनेक स्थलों पर हिंदू-द्वेषी मुसलमान इतिहास-लेखकों ने उस समय हिंदू-द्वेष के वशवर्ती होकर हिंदू-द्वेषी अपने प्रभुओं को प्रसन्न करने के लिये अपने प्रभुओं की जीत को विस्तारपूर्वक लिखा है और उनके शत्रुओं की जीत को यदि स्वीकार किया भी है, तो बड़े

ओछे शब्दों में लिखा है। अत: ऐसे ग्रंथों के आधार पर मेवाड़ के वीरों की जगत्-प्रसिद्ध वीरता पर हरताल लगाना, कम से कम हमारी क्षुद्र बुद्धि के अनुसार किसी दृष्टि से न्यायानुमोदित कार्य नहीं कहा जा सकता।

इसमें भी संदेह नहीं कि महात्मा टाड की सारी रचना भ्रम रहित नहीं है। संभव है, कई स्थलों पर परस्पर-विरुद्ध लेखों को देख उन्होंने भी अपनी बुद्धि के अनुसार किसी अशुद्ध वर्णन ही को सत्य मान लिया हो; परंतु यह बात समझ में नहीं आती कि अकबर, औरंगजेब जैसे सम्राटों के राजत्व काल के, मेवाड़ संबंधी हल्दी घाटी जैसे, प्रसिद्ध युद्धों के वर्णन में वे भूले हों। हाँ इस बात की आवश्यकता है कि टाड्स राजस्थान का हिंदी में एक संक्षिप्त संस्करण (Abridged Edition) अवश्य छापा जाय। हमारी इच्छा थी कि हम यह आवश्यकता इस पुस्तक द्वारा पूरी करें; पर इस पुस्तकमाला की पुस्तकों की पृष्ठ-संख्या केवल २०० ही रखी गई है। अत: इतने बड़े ग्रंथ को संक्षेप कर २०० पृष्ठों में लिख देना मूल ग्रंथकार के प्रति अन्याय करना न भी समझा जाय, तो भी हम अपने को इस काम के लिये अयोग्य पाते हैं।

इस ग्रंथ का नाम हमने प्राचीन आर्य वीरता इसलिये रखा है कि इसमें उक्त ग्रंथ में से कतिपय वीरों के युद्धों का वर्णन देकर, पुस्तक को इस पुस्तकमाला के उद्देश्यानुसार, मनोरंजक बनाने का प्रयत्न किया है। हम अपने इस प्रयत्न में कहाँ

तक सफल हो सके हैं, यह बतलाना हमारा कर्त्तव्य नहीं है। इसका निर्णय करना पाठकों पर निर्भर है; क्योंकि "कर्मण्येवाधिकरस्ते मा फलेषु कदाचन"। कर्त्तव्यपालन मनुष्य का कर्त्तव्य है। उसका फल ईश्वराधीन है। तिस पर भी जिन वीर पुरुषों के वृत्तांत इसमें लिखे गए हैं, यदि उन्हें पढ़कर हमारे निर्जीव देशवासियों के हृदय में सजीवता आवे, मेवाड़ के श्रद्धेय वीरों की वीरता से हमारे भीरु देशवासी वीरत्व का महत्व और गौरव समझ सकें, तो हम अपने इस परिश्रम को सफल समझेंगे।

दारागंज-प्रयाग
ता० १६—१२—१४. } चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्म्मा

प्राचीन आर्य-वीरता

पृथिवीराज चौहान

दिल्ली के सिंहासन पर राजा अनंगपाल नाम के एक राजा हो चुके हैं। उनकी दो कन्याएँ थीं। एक तो अजमेर के राजा चौहानवंशीय सोमेश्वर को ब्याही थी और दूसरी कन्नौज के राजा विजयपाल को। पहली लड़की के गर्भ से पृथिवीराज का जन्म हुआ और दूसरी के गर्भ से जयचंद का। जयचंद और पृथिवीराज, दोनों ही दिल्लीश्वर अनंगपाल के धेवते या नाती थे। जयचंद से पृथिवीराज छोटे थे। दोनों पर नाना का परम स्नेह था। दुर्भाग्यवश जयचंद ने अपने नाना के स्नेह को खो दिया, किंतु पृथिवीराज पर अनंगपाल का स्नेह अटल अचल बना रहा।

अनंगपाल के कोई पुत्र न था, इसी से वे अपने स्नेह-भाजन पृथिवीराज पर पुत्रवत् स्नेह करते थे; और जब उनका अंत समय निकट आया, तब सारा राज-पाट पृथिवीराज को दे बूढ़े अनंगपाल सुरलोक-वासी हुए।

पृथिवीराज को दिल्ली का अधीश्वर होते देख जयचंद की सारी आशाओं पर पानी फिर गया; क्योंकि उसे भरोसा था कि पृथिवीराज से अवस्था में ज्येष्ठ होने के कारण नाना की संपत्ति का वही उत्तराधिकारी होगा। पर जिस वस्तु का मिलना भाग्य ही में नहीं लिखा, वह भला मिलने ही क्यों लगी? पर जो लोग लालची होते हैं, वे अपने भाग्य से संतुष्ट और शांत नहीं होते। वे अपने हिस्से की वस्तु को दूसरे के हाथ में जाते देख रात दिन जला करते हैं। यही दशा जयचंद की थी। वह पृथिवीराज की समृद्धि को देख रात दिन जला करता था। उसने अपनी इस जलन को बुझाने के लिये जो प्रयत्न किए, वे केवल उसी के नाश के कारण न हुए, किंतु उसने सारे भारतवर्ष में यह आग लगाई जिससे हिंदुओं का प्रभुत्व ही इस देश से सदा के लिये नष्ट हो गया।

चौहान कुल के परंपरागत शत्रु मंडोर के और अनहिल-वाड़ा (पट्टन्) के राजाओं ने चौहानवंशीय पृथिवीराज के विरुद्ध जयचंद को उभाड़ा और वे उसकी सहायता करने को वचन-बद्ध हुए। यह बात पृथिवीराज से छिप न सकी। पृथिवीराज ने इन दोनों राजाओं से कहा कुछ भी नहीं, पर पीछे एक ऐसी घटना हुई जिससे पृथिवीराज को मंडोरराज के विरुद्ध खड्ग उठाना पड़ा।

बात यह थी कि पृथिवीराज के राजसिंहासन पर बैठने पर मंडोरराज ने अपनी बेटी उनको देनी चाही; किंतु पृथिवी-

राज ने जब उसकी बेटी लेना स्वीकार कर लिया, तब उसने उनको धोखा देकर अपनी बेटी का विवाह दूसरे के साथ कर पृथिवीराज का बड़ा अपमान किया। इस अपमान का बदला लेने के लिये पृथिवीराज को मंडोरराज पर चढ़ाई करनी पड़ी। इसी चढ़ाई में पृथिवीराज के भावी गौरव की सूचना मिली और क्रमशः उनका विक्रम प्रकट हुआ।

पृथिवीराज के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए इस उत्कर्ष को देख जयचंद का हृदय ईर्ष्याग्नि से धधकने लगा। उसने उनकी उन्नति में बाधा डालने के लिये पृथिवीराज के रणकुशल योद्धाओं को फोड़ा और उन्हें अपनी सेना में भर्त्ती किया। दोनों राजाओं में ऐसे ऐसे कारणों ही से परस्पर मनोमालिन्य उत्तरोत्तर बढ़ने लगा।

घटना का संबंध स्थिर रखने के लिये यह बतलाना आवश्यक जान पड़ता है कि चित्तौर के तत्कालीन राजा समरसिंह पृथिवीराज के बहनोई थे। पृथिवीराज की बहिन पृथा राणा समरसिंह को ब्याही थी। जब से इन दो वीरों में इस संबंध के कारण परस्पर मैत्री हुई, तब से समरसिंह बराबर पृथिवीराज को समय समय पर सहायता देते रहे। यही क्यों, पृथिवीराज की ओर से शत्रु-पक्ष से लड़ते ही लड़ते समरसिंह को प्राण विसर्जन करने पड़े। यह बात पाठकों को आगे चलकर जान पड़ेगी। अस्तु।

पृथिवीराज के मित्र समरसिंह से भी जयचंद और पाटन के राजा शत्रुता रखने लगे। अतः समरसिंह को भी इन दोनों के विरुद्ध अस्त्र ग्रहण करने पड़े।

पृथिवीराज पर सौभाग्य लक्ष्मी सुप्रसन्न थी, अतः नगरकोट के पास उन्हें पृथिवी में गड़े सात करोड़ रुपए मिले। पृथिवीराज के पास पहले ही बड़ी भारी सेना थी; तिस पर उनको जब इतना धन मिला तब तो कन्नौजराज और पाटनाधीश को बड़ी चिंता उत्पन्न हुई। अंत में इन दोनों ने पृथिवीराज को दमन करने का अन्य उपाय न देख, शहाबुद्दीन से सहायता माँगी। इस माँग के पहले ही शहाबुद्दीन की सतृष्ण दृष्टि भारतवर्ष पर पड़ चुकी थी और वह अपनी अभिलाषा को चरितार्थ करने के अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। सौभाग्यवश अवसर अपने आप आ उपस्थित हुआ। अब वह भला क्यों विलंब करने लगा। तुरंत ही वह एक बड़ी भारी सेना साथ ले पृथिवीराज पर आक्रमण करने के लिये अग्रसर हुआ।

पृथिवीराज से ये बातें छिप नहीं सकती थीं, अतः वे भी सतर्क हो वैरी का सामना करने के लिये तैयारी करने लगे। इन्होंने शत्रु के आक्रमण की सूचना देने के लिये समरसिंह के पास, लाहौर के चंडपुंडीर नामक एक सामंत राजा को अपना दूत बनाकर भेजा। चंडपुंडीर महाराज पृथिवीराज के अन्य सामंत राजाओं में बड़ा पराक्रमी, बड़ा स्वदेश-हितैषी, कठोर उद्यमी और बड़ा प्रभुभक्त था। इसके गुणों का वर्णन कवि चंद ने विशद रूप से तेजस्विनी भाषा में किया है। जिस समय शहाबुद्दीन विशाल सैन्य-दल के साथ दिल्ली की ओर बढ़ता चला आता था, उस समय इसी राजपूत वीर चंडपुंडीर

ने उसकी गति को स्थगित करने के अभिप्राय से रावी के तट पर अपना भयंकर शूल रोपा था। यद्यपि वह अपने प्रयत्न में सफल न हो सका, तथापि उस समय की उसकी वीरता को चिरकृतज्ञ भारतवर्ष कभी भूल नहीं सकता।

चंडपुंडीर ने जिस समय चित्तौर में पहुँचकर समरसिंह से भेंट की, उस समय महाराज अपने विश्रामगृह में एक व्याघ्रचर्म के आसन पर बैठे थे। उस समय उनके शरीर पर लाल वस्त्रों की अपूर्व शोभा हो रही थी। सारे अंग पर भस्म लगी थी और गले में रुद्राक्ष की माला पड़ी हुई थी। चंडपुंडीर को देख महाराज ने बड़े आदर के साथ पृथिवीराज की कुशल पूँछी और बैठने के लिये आसन दिया। महाराज के इस उदार व्यवहार और उनकी शांत गंभीर मूर्ति के दर्शन कर दूत के मन में उनके प्रति भक्ति उमड़ आई। उसने महाराज को "योगींद्र" कहकर संबोधित किया और भक्ति के कारण गद्गद स्वर से कहा—"आप सचमुच भगवान् महादेवजी के प्रतिनिधि हैं।" इसके अनंतर इन दोनों में जो वार्तालाप हुआ, वह अब तक चंद बरदायी के ग्रंथ की ओजस्विनी भाषा में सुरक्षित है।

अपने प्यारे मित्र पृथिवीराज का आमंत्रण स्वीकार कर, महाराज समरसिंह सेना-सहित दिल्ली की ओर प्रस्थित हुए। बहनोई की अवाई सुन दिल्लीश्वर ने आगे बढ़कर उनकी अग-वानी की। दोनों का उस समय का मिलन अपूर्व था।

आवश्यक शिष्टाचार के अनंतर कर्त्तव्य-कार्य पर विचार हुआ। दोनों ने उपस्थित स्थिति पर विचार कर दो कर्त्तव्य निश्चित किए। एक तो यह कि मुसलमानों के आक्रमण को रोकना, यह काम समरसिंह ने अपने ऊपर लिया। दूसरा काम अर्थात् पट्टनराज पर चढ़ाई का भार पृथिवीराज ने अपने ऊपर लिया। इसका कारण यह था कि समरसिंह पट्टनराज के यहाँ ब्याहे थे। संबंधी के ऊपर एक संबंधी की ओर से चढ़ाई करना समरसिंह के लिये ठीक भी न था। अतः पृथिवीराज पट्टनराज पर चढ़ दौड़े। दोनों ओर से घोर संग्राम हुआ। पट्टनराज का अभिमान चूर हो गया। वहाँ से लौटकर पृथिवीराज समरसिंह से आ मिले। दोनों की सम्मिलित सेना से शहाबुद्दीन की सेना के मुसलमान सैनिक धराशायी होने लगे। धीरे धीरे शहाबुद्दीन की सेना का बल क्षीण होता गया। अंत में अपने प्राणों पर संकट देख शहाबुद्दीन रणभूमि छोड़कर भागा, पर उसका सेनापति राजपूतों के हाथ पड़ा।

इस युद्ध में महाराज पृथिवीराज की जीत हुई। पृथिवीराज को नगरकोट के पास जो धन मिला था, उसमें से आधा धन उन्होंने समरसिंह को भेंट कर दिया। पर समरसिंह ने वह धन स्वयं न लेकर अपने सैनिकों को दे डाला। अपने मित्र और संबंधी का काम पूरा कर समरसिंह अपनी राजधानी को लौट गए।

महाराज पृथिवीराज शत्रुओं की ओर से निश्चिंत हो अपनी पटरानी संयुक्ता* के साथ आनंद से दिन बिताने लगे। किंतु पृथिवीराज के निश्चिंत रहने पर भी उनके शत्रु तो निश्चिंत न थे। पृथिवीराज को असावधान सुन शहाबुद्दीन एक बड़ी सेना साथ ले फिर भारतवर्ष पर चढ़ धाया। तब पृथिवीराज की नींद टूटी। उस विपत्ति से निस्तार पाने के लिये वे उपाय सोचने लगे और उन्होंने समरसिंह से सहायता माँगी। पृथिवीराज अब तक जिस मनमोहिनी के प्रेम में पड़ राजपाट को भूल गए थे और अपना सारा समय भोग-विलास ही में व्यतीत किया करते थे, आज वही उनकी सर्वेश्वरी संयुक्ता, वीर नारी की तरह, उनके सामने खड़ी उन्हें रणभूमि में भेजने के लिये उत्तेजना-पूर्ण बातें कह रही है।

---

* संयुक्ता जयचंद की लड़की थी। जयचंद ने संयुक्ता के विवाह के लिये स्वयंवर-सभा रची थी, जिसमें सम्मिलित होने के लिये पृथिवीराज और समरसिंह को छोड़ भारत के सभी राजाओं के पास आमंत्रण-पत्र भेजा गया था। यही नहीं बल्कि इन दोनों का अपमान करने के उद्देश्य से जयचंद ने इन दोनों की सुवर्ण-प्रतिमाएँ बनवाकर स्वयंवर-सभा के द्वार पर, द्वारपालों की जगह, खड़ी की थीं। पर दैव का विधान विचित्र है। संयुक्ता ने अपने पिता के वैरी पृथिवीराज की प्रतिमा ही के गले में जयमाल डाली। उस समय पृथिवीराज भी उस सभा से कुछ ही दूर पर छिपे खड़े थे। इस वृत्तांत को जानते ही वे शीघ्रता से अचानक सभामंडप में पहुँचे और संयुक्ता को अपने घोड़े पर बैठाकर अपनी राजधानी को लौट गए। सभावाले मुँह ताकते ही रह गए; किसी से कुछ करते धरते न बन पड़ा।

उधर मित्र पर विपत्ति आने का संवाद पाकर समरसिंह अपने छोटे पुत्र करणसिंह को राज-पाट सौंप, तुरंत अपनी राजधानी से प्रस्थित हुए। पृथिवीराज भी अपने सेनापति और सामंतों को बुलाकर युद्ध की तैयारी में लगे। समरसिंह के आने का समाचार सुन, महाराज पृथिवीराज अपने समस्त सरदारों के साथ उनकी अगवानी को महल से निकले। बहुत दिनों बाद अपने महाराज के दर्शन पाकर दिल्ली की प्रजा बहुत प्रसन्न हुई। समरसिंह को साथ लाकर पृथिवीराज ने उन्हें अपने महलों में टिकाया। फिर एक बड़ा दरबार किया। दरबार में समरसिंह और पृथिवीराज बराबर बैठे हुए थे। सारे दरबार में प्रसन्नता छाई हुई थी। बाजे बज रहे थे। इस प्रकार जब दरबार हो चुका, तब समरसिंह ने पृथिवीराज से पूछा—"शत्रुओं के मार्ग रोकने के लिये क्या प्रबंध किया गया है?" इसके उत्तर में पृथिवीराज ने कहा—"मैंने तो अब तक इस पर कुछ भी विचार नहीं किया।" यह उत्तर सुनकर समरसिंह विस्मित हुए और मीठे वचनों से दिल्लीश्वर का तिरस्कार किया और शत्रु का मार्ग रोकने का उपाय सोचने लगे।

अंत में समरसिंह की आज्ञा से राजपूतों की बड़ी सेना दिल्ली के तोरणद्वार से शत्रुदल की ओर ऐसे वेग से लपकी, जैसे गरुड़ सर्प पर झपटता है। कहाँ पर कितनी सेना रखनी होगी, किस प्रकार कहाँ पर शत्रु का सामना करना होगा, इन सब बातों में समरसिंह के परामर्श बिना पृथिवीराज कुछ

भी काम नहीं करते थे। समरसिंह के अनुपम गुणों पर मुग्ध हो गहिलौत और चौहान सैनिक तथा सामंत उनमें बड़े श्रद्धावान् हो गए थे। संध्या समय युद्ध समाप्त होने पर सब सामंत और राजपूत वीर उनके डेरे में एकत्र होते थे। समरसिंह उनसे बड़े भाव के साथ बातचीत करते थे और अनेक प्रकार के नैतिक उपदेश दे उनके चित्त को अपनी मुट्ठी में कर लिया करते थे।

दृषद्वती नदी के किनारे पर क्षत्रियों और मुसलमानों का घोर युद्ध हुआ। यह संग्राम तीन दिन तक होता रहा। दो दिन तक तो यों ही समय बीता, किसी ओर भी जय-पराजय के चिह्न न दिखाई पड़े। किंतु तीसरा दिन "कालनिशा" होकर भारत के प्राची द्वार पर दिखाई पड़ा। राजपूत दृषद्वती के पवित्र जल में स्नान कर प्रातःकृत्यों को पूरा करने में लगे। भगवान् सूर्य मानों एक बार अनंत काल के लिये भारतीय संतानों का गौरव देखने को धीरे धीरे उदयाचल पर विराजमान हुए।

उधर पृथिवीराज अपनी प्यारी संयुक्ता के पास खड़े हो बिदा होने लगे। कहते हैं, संयुक्ता अपने हाथों से पृथिवीराज का वीरोचित शृंगार करने लगी। उसने महाराज को कवच पहनाकर कमर में खड्ग बाँधा। इतने में रणक्षेत्र में मारू बाजे बजने लगे। राजपूत सिंहनाद कर वैरियों से हाथ मिलाने को आगे बढ़े।

मारू बाजों का शब्द सुन पृथिवीराज विस्मित हुए; क्योंकि उनको यह विश्वास न था कि विश्वासघाती यवन इतने तड़के

लड़ाई का ढोल बजा देंगे। अतएव विस्मित पृथिवीराज ने तत्क्षण ही रणक्षेत्र की ओर प्रस्थान किया। आज के युद्ध में समरसिंह और उनके पुत्र कल्याणसिंह मारे गए। उनके साथ उनके तेरह हज़ार राजपूत सैनिक भी सुरपुर सिधारे। उस दिन दृषद्वती के रक्त-मिश्रित जल में भारतवर्ष का गौरव रूपी सूर्य्य सदा के लिये डूब गया। महाराज पृथिवीराज शत्रु द्वारा वंदी बनाए गए।

जिस समय समरसिंह की पटरानी पृथा ने सुना कि प्राण-नाथ यवनों की कपट चाल से मारे गए, और पृथिवीराज वैरी के हाथ में पड़ बंदी बनाए गए, उस समय पृथा ने किसी का कहना न मानकर चिता तैयार कराई और उसमें प्रवेश कर वह वीर नारी पतिलोक को सिधारी।

रणभूमि में पड़े हुए राजपूत वीरों के कटे हुए सिरों को पैर से ठुकराता शहाबुद्दीन दिल्ली की ओर चला। उस समय दिल्ली के अंतिम आर्य वीर युवक रणसिंह ने अत्यंत पराक्रम दिखाकर संग्रामभूमि में अपने प्राण दिए। इसकी शोच्य मृत्यु से दिल्ली अनाथा हो गई। उस रक्षकहीन श्मशान-सदृश दिल्ली नगर में घुसकर शहाबुद्दीन ने महाराज युधिष्ठिर के पवित्र राजसिंहासन को अधिकृत किया।

उधर क्षत्रियाधम जयचंद को भी उसकी करतूत का फल हाथों हाथ मिल गया। मुसलमानों के कन्नौज पर आक्रमण करने पर वह राजधानी छोड़ नाव पर सवार हो भागा। भागते

समय नाव गङ्गाजी में डूबी और जयचंद भी उसी के साथ गङ्गाजी में डूब गया।

बंदी होने के पीछे महाराज पृथिवीराज को शहाबुद्दीन ने, उनके गले में सौ मन का तौक़ डाल तथा हथकड़ी बेड़ी पहना, ग़ज़नी के कारागार में भेज दिया*। चंद बरदाई पृथिवीराज के परम मित्र थे। अपने मित्र का ग़ज़नी जाना सुन वे स्वयं ग़ज़नी गए और बड़ी चतुराई से शहाबुद्दीन को प्रसन्न कर उन्होंने पृथिवीराज से मिलने की अनुमति प्राप्त की। मित्र से मिलने पर चंद को विदित हुआ कि शत्रुओं ने गरम सलाई से उनकी आँखें फोड़ डाली हैं। उनके हाथ पैर हथकड़ी-बेड़ियों से जकड़े हुए हैं और गले में सौ मन की साँकल पड़ी है। अपने मित्र की यह दशा देख चंद बहुत दुःखी हुए। पर चंद को आया हुआ जान जो आनंद पृथिवीराज को हुआ, वह वर्णनातीत है। वे अपने सारे कष्टों और दुःखों को भूलकर बड़े प्रेम के साथ उठकर चंद से मिले। जब यह संवाद जासूस द्वारा शहाबुद्दीन को विदित हुआ, तब उसने आज्ञा दी कि पृथिवीराज के हाथों-पैरों में और भी भारी हथकड़ी बेड़ियाँ डाल दी जायँ। पर चंद ने जाकर शहाबुद्दीन से कहा कि दृष्टि अपहृत होने के कारण महाराज सब प्रकार से कर्त्तव्य-

---

* टाड साहब का मत है कि मुसलमानों ने पृथिवीराज को पकड़कर मार डाला और संयुक्ता उनके साथ सती हो गई। पर दूसरा मत यह है कि पृथिवीराज को न मारकर शहाबुद्दीन ने उन्हें ग़ज़नी भेज दिया।

हीन हो रहे हैं—उनको और अधिक उत्पीड़ित करना आप जैसे वीरों को नहीं शोभता। तब उसने अपनी आज्ञा लौटा ली। तदनंतर चंद ने शहाबुद्दीन से कहा—

चंद—मेरे यहाँ आने का मुख्य प्रयोजन यह है कि ऐसे विपत्-काल में मैं अपने मित्र को आश्वासन दूँ, परंतु मैंने देखा कि आँखों की ज्योति खोकर राजा सब प्रकार से दीन हीन हो रहा है। तिस पर बड़ी भारी हथकड़ी-बेड़ियों ने उसको और भी अधिक पीड़ित कर रखा है। यदि आपके मन में आवे तो राजा को छोड़कर उससे बड़े बड़े चमत्कार सीखिए। वह बड़ा गुणी है। वह शब्दवेधी बाण चलाने की भी विद्या जानता है। यद्यपि अब उसकी दृष्टि जाती रही है, तथापि सौ सौ मन के भारी सात तवे नीचे ऊपर रखवा दीजिए, उन्हें वह एक ही तीर से बेध देगा। उसका यह अद्भुत करतब देखने ही योग्य है।

कुतूहलवश शहाबुद्दीन ने जब यह करतूत देखने की इच्छा प्रकट की, तब चंद ने फिर कहा—

चंद—इस समय पृथिवीराज निर्बल हो रहा है। उसके हाथ पैर की साँकलें निकलवा दीजिए और पुष्ट भोजन करवाइए; तब वह इस प्रकार के करतब दिखाने में समर्थ होगा।

इस पर शहाबुद्दीन ने चंद के कथनानुसार ही आज्ञा दी। उधर पौष्टिक भोजन पाने से महाराज भी थोड़े ही दिनों में पूर्ववत् बलवान् हो गए। फिर वह करतब देखने के लिये

दिन नियत किया गया। नियत दिन के उपस्थित होने पर रंगशाला सजाई गई; और सात तवे नीचे ऊपर कुछ अंतर पर रख दिए गए। चंद और महाराज पृथिवीराज उस रंग-शाला में पहुँचे। उसी समय महाराज के हाथ में तीर कमान दी गई। पर ज्योंही उन्होंने उस कमान पर रोदा चढ़ाना चाहा, त्योंही वह टूट गई। तब उन्हें दूसरी कमान दी गई, पर वह भी टूट गई। इस प्रकार जब सात आठ धनुष टूट चुके, तब शहाबुद्दीन ने अपना धनुष मँगवाकर पृथिवीराज को दिया। शहाबुद्दीन ने यद्यपि यह करतूत देखने के लिये सब तैयारियाँ करवा दी थीं, तथापि वह अपने शत्रु की ओर से निश्चित न था। रंगशाला में पृथिवीराज के आते ही उनके हाथ पैरों और गले में पूर्ववत् भारी भारी साँकलें डाल दी गई थीं। रंगशाला दर्शकों से खचाखच भरी हुई थी। शहाबुद्दीन स्वयं एक ऊँचे मंच पर बैठा हुआ था। चंद ने यह प्रबंध किया था कि तवों पर कंकड़ी मारकर जब शहाबुद्दीन "शाबाश" कहकर पृथिवीराज को उत्साहित करे, तब महाराज तीर चलाकर उन तवों को छेदें।

महाराज हाथ पैर और गले में साँकलें पहने बीचोबीच आँगन में खड़े थे। उनके दाहिनी ओर कविश्रेष्ठ चंद खड़े थे। उनके आस-पास शहाबुद्दीन के सशस्त्र पहरुए खड़े थे। निशाना बेधने के पहले चंद ने यह कविता पढ़कर महा-राज को सतर्क किया था—

दोहा

चार वंश चौबीस गज, अंगुल अष्ट प्रमान।
एते पर सुलतान है, मत चूके चौहान॥

अपिच

इही बाण चहुआन, राम रावण उत्थप्यौ।
इही बाण चहुआन, कर्ण सिर अर्जुन कट्ट्यौ।
इही बाण चहुआन, शंभु त्रिपुरासुर संध्यौ।
इही बाण चहुआन, भ्रमर लछमन कर बेध्यो।
सो बाण आज तो कर चढ्यौ, चढ़े विरद साँचो चवै।
चहुआन राज संभर धनी, मत चूके मोटे तवै॥

इस कविता को सुन पृथिवीराज चंद के मन की बात समझ गए। फिर पूर्व ठहराव के अनुसार ज्योंही तवे पर कंकड़ी मारकर सुलतान ने "शाबाश" कहकर महाराज को उत्साहित किया, त्योंही पृथिवीराज ने मुँह फेर तीर छोड़ ही तो दिया। वह बाण शहाबुद्दीन का सिर बेधकर आर पार हो गया। सुलतान मचान से अचेत हो नीचे गिर पड़ा और तत्क्षण ही मर गया।

इस घटना से सारे दरबार में हाहाकार मच गया। शहाबुद्दीन के सिपाही पृथिवीराज पर टूट पड़े। पर उधर पृथिवीराज और चंद पहले ही यह निश्चय कर चुके थे कि म्लेच्छों के हाथ से मारे जाने पर हमको सद्गति नहीं मिलेगी। अतः चंद

ने महाराज का मस्तक तलवार से पृथिवी पर गिराया और साथ ही अपना मस्तक भी आपही काट डाला।

इस प्रकार भारतवर्ष के अंतिम हिंदू दिल्लीश्वर की मानवी लीला संवरण हुई* ।

---

* यह घटना भाटों के ग्रंथों में सविस्तर वर्णित हुई है और जयपुर में इस घटना को लेकर एक भावपूर्ण चित्र भी बनाया गया है।

भीमसिंह

जिस समय की घटना का नीचे उल्लेख किया जायगा, उस समय चित्तौर के राजसिंहासन पर यद्यपि राणा लक्ष्मणसिंह आसीन थे, तथापि उनकी अवस्था छोटी होने के कारण उनके चचा भीमसिंह ही सारा राजकार्य चलाते थे। इनका विवाह लोकललामभूता विख्यात महारानी पद्मिनी के साथ हुआ था। महारानी पद्मिनी अथवा पद्मावती का जन्म चौहान कुल में हुआ था। वे हमीरशंख की बेटी थीं। हमीरशंख सिंहल के रहनेवाले थे। इन महारानी पद्मिनी का जगद्विख्यात सौंदर्य ही शिशोदिया वंशोद्भवों के पक्ष में महा अमंगलकारक हुआ।

महारानी पद्मिनी का लावण्य और सौंदर्य उस समय भारतवर्ष भर में यहाँ तक विख्यात हुआ कि महारानी सर्वांगसुंदरी समझी जाने लगी थीं। देवांगना के समान महारानी पद्मिनी के सौंदर्य, गुण, गौरव, महिमा और उनकी मृत्यु का वृत्तांत राजपूताना प्रांत में घर घर प्रचलित है।

राजपूताने के कवियों का कहना है कि पद्मिनी को पाने के लिये ही अलाउद्दीन ने चित्तौर पर चढ़ाई की थी। उसकी इस चढ़ाई का कारण डाह या देश की लालसा नहीं थी।

कहा जाता है कि उसने चित्तौर को घेरकर यह घोषणा करवा दी थी कि मैं पद्मिनी को पाते ही यहाँ से चल दूँगा। पर ग्रंथांतरों से यह प्रतीत होता है कि कई मास तक घेरा डाले रहने पर भी जब कोई फल न हुआ, तब उसने यह घोषणा प्रचारित करवाई थी। जो हो, कहा जाता है कि अलाउद्दीन की इस घोषणा को सुनते ही चित्तौर के राजपूत क्रोध में भर उन्मत्तवत् हो गए। उनका क्रोध में भर अधीर होना न्यायसंगत भी था; क्योंकि कौन ऐसा नराधम होगा जो इस घृणित अपमान-कारक प्रस्ताव का समर्थन करे! फिर भला वे राजपूत वीर, जिनकी नाड़ियों में पवित्र आर्य रक्त प्रवाहित होता था, क्यों ऐसे घृणित प्रस्ताव को मानने लगे। अलाउद्दीन की जब यह दुरभिलाषा पूरी न हो पाई, तब उस कपटी ने एक दूसरा प्रस्ताव किया। उसने कहा—"मैं महारानी पद्मिनी की मनमोहिनी परछाईं को दर्पण में निरखते ही दलबल सहित यहाँ से चल दूँगा।" इसको भीमसिंह ने स्वीकार कर लिया।

साथ ही ऐसी व्यवस्था की गई जिससे अलाउद्दीन पद्मिनी की परछाईं देख ले। उधर अलाउद्दीन को पूर्ण विश्वास था कि वीर राजपूत मिथ्यावादी अथवा विश्वासघाती नहीं होते। अपनी इस धारणा के वशवर्त्ती हो वह चित्तौरगढ़ में अपने इने गिने शरीर-रक्षकों के साथ गया और दर्पण में महारानी पद्मिनी की मोहिनी परछाईं देखकर अपने शिविर की ओर

लौट पड़ा। सरल-हृदय भीमसिंह ने इस विश्वासघातक की चाल न समझ एक मित्र अतिथि जैसा इसका आतिथ्य किया और उसे पहुँचाने के लिये वे सिंहद्वार तक गए। मार्ग में अलाउद्दीन भीमसिंह को बातों की उलझन में डालने के अभिप्राय से अपने पूर्वकृत अपराधों के लिये बहुत नम्रतापूर्वक क्षमा प्रार्थना कर रहा था। पर भीमसिंह भूल गए थे कि "नवन नीच की अति दुखदायी।" जब भीमसिंह इस प्रकार अतर्क भाव से अपने गुप्त शत्रु के साथ बातचीत करते हुए ऐसे स्थान पर पहुँचे जहाँ पहले ही से अलाउद्दीन के सैनिक छिपे थे, तब तुरंत ही उन्हें अलाउद्दीन के सिपाहियों ने पकड़कर बंदी बना लिया। सीधे सादे भीमसिंह इस प्रकार कपटी अलाउद्दीन के जाल में फँस गए।

भीमसिंह को बंदी बनाकर अलाउद्दीन ने यह घोषणा प्रचारित की कि "पद्मिनी को पाकर मैं भीमसिंह को छोड़ दूँगा; नहीं तो नहीं।"

महाराज के शत्रु द्वारा पकड़े जाने का संवाद बात की बात में सारे नगर में फैल गया। इस संवाद को सुन चित्तौर-वासी नैराश्य से विमूढ़ और हतोत्साह हो गए। भीमसिंह के सरदार विचार-सागर में गोते खाने लगे। कभी तो वे विचारते कि पद्मिनी को देकर भीमसिंह का उद्धार करें, कभी सोचते कि वीर राजपूत कहलाकर यह कायरपन का कार्य कर हम अपनी विमल कीर्ति को कलंकित नहीं करेंगे। इस

प्रकार अनेक प्रकार के विचारों में पड़कर भी वे भीमसिंह के उद्धार का कोई उपाय निश्चित न कर सके।

उधर महारानी पद्मिनी ने भी अपने प्यारे जीवन-सर्वस्व पति के बंदी होने का विषादमय वृत्तांत सुना। सारे सरदार यह जानने को उत्सुक हुए कि महारानी का अब क्या विचार है। इतने में उन लोगों ने सुना कि महारानी अलाउद्दीन के पास जाने को उद्यत हैं। यह सुन समस्त चित्तौरवासी विस्मित हुए। उनका विस्मित होना ठीक ही था; क्योंकि एक पतिव्रता नारी का एक नीच यवन के हाथ से अपने स्वर्गीय सतीत्व को कलंकित करना वीर राजपूतों की दृष्टि में सचमुच बड़े विस्मय की बात है। पर महारानी ने बड़ी चतुराई कर अपना गूढ़ रहस्य सर्वसाधारण को न जनाया।

महारानी के पिता के राज्य के दो कुटुंबी चित्तौर में रहते थे। इनमें से एक का नाम गोरा था। यह महारानी के चचा थे। दूसरे का नाम बादल था। यह नाते में महारानी के भाई होते थे। ये दोनों बड़े वीर और विचारशील थे। महारानी ने इन दोनों को बुलाया और इन दोनों के साथ उन्होंने गुप्त परामर्श किया। इस परामर्श का मुख्य अभिप्राय यह था कि महारानी अपने पातिव्रत्य की रक्षाकर किस प्रकार अपने पति का उद्धार करें। अंत में उन दोनों मंत्रणाकुशल वीरों ने एक युक्ति निकाली। उस युक्ति के अनुसार काम किए जाने पर सती के सतीत्व में भी

बट्टा न लगा और भीमसिंह भी अलाउद्दीन के जाल से छूट गए।

विचार पक्का करके तुरंत ही एक दूत अलाउद्दीन के पास भेजा गया। उसने जाकर बड़ी नम्रता के साथ अलाउद्दीन से कहा—

दूत—हुजूर! आप बादशाह हैं। महारानी भी एक आली राजपूत खान्दान की हैं। इसलिये दोनों ओर से एक दूसरे की खातिर तवाजह में किसी बात की कमी न होनी चाहिए। महारानी साहिबा अपनी कुल बाँदियों और सहेलियों के साथ हुजूर की कदमबोसी हासिल करेंगी। राजपूतों की दीगर औरतें जो उनकी रात दिन की सहेली हैं, जो उन्हें देखे बगैर एक लहमा भी नहीं जी सकतीं, वे उनको उम्र भर के लिये रुखसत करने के लिये इस डेरे तक उनके साथ आवेंगी। इनके सिवा जो राजपूतिनें उनके हमराह देहली जायँगी, वे भी उनके साथ आवेंगी। वे सब खान्दानी औरतें हैं। उन्होंने कभी घर के बाहर कदम नहीं रखा है। आज हुजूर के हुक्म की तामील करने के लिये वे अपने पुश्तैनी रिवाज को छोड़कर यहाँ आवेंगी।

हुजूर से सिर्फ इतनी ही गुजारिश है कि जिस तरह वे जहाँपनाह के खुश करने को अपने खान्दान का पुश्तैनी तौर तरीका छोड़कर आती हैं, उसी तरह हुजूर को भी

उनकी इज्जत आबरू का खयाल रखना मुनासिब है। कहीं ऐसा न हो कि बिला वजह उनके साथ मजाक करने को कोई उनकी पालकी के पास चला जाय। अगर ऐसा हुआ तो उनके कायदे में खलल आ जायगा।

कामातुर अलाउद्दीन इस प्रस्ताव से सहमत हो गया। मोहमयी मोहिनी के जाल में पड़ने से वह यह न सोच सका कि पतिव्रता हिंदू नारी अपने हृदय को भले ही छेद डालें, धधकती हुई आग में वे अपने शरीर को भले ही भस्म कर डालें, पर प्राणाधिक अपने सतीत्व को वे क्योंकर नष्ट कर सकेंगी। जो हो, कहा भी है—

"जाको प्रभु दारुण दुख देईं।
ताकी मति पहले हर लेईं॥"

इस भेंट के लिये जो दिन नियत हुआ था, वह उपस्थित हुआ। देखते देखते चित्तौर के सिंहद्वार से सात सौ बंद पालकियाँ निकलकर यवनशिविर की ओर चलीं। इन पालकियों में से प्रत्येक में कपट वेष धारण किए और गुप्त हथियार लगाए हुए छः छः सैनिक कहार लगे थे। ये सभी रणोन्मत्त वीर सैनिक थे। फिर प्रत्येक पालकी के भीतर चित्तौर का एक साहसी वीर बैठा हुआ था।

धीरे धीरे करके वे सब डोले बादशाही डेरों के भीतर जा पहुँचे। उन सब डेरों के चारों ओर कनातें लगी हुई थीं। प्रत्येक डोला तंबू के भीतर पहुँच गया। महारानी पद्मिनी

के साथ अंतिम भेंट करने के लिये भीमसिंह को आध घंटे का समय दिया गया।

भीमसिंह ज्योंही डोले के निकट पहुँचे, त्योंही चित्तौर के वीर सैनिकों ने उनको एक पालकी में गुप्त भाव से साव-धान करके बैठा लिया और तत्काल ही उस पालकी को ले वे डेरे से बाहर हुए। उस पालकी के साथ कुछ और भी पालकियाँ थीं। इस प्रकार भीमसिंह को चित्तौर की ओर सकुशल भेज, अन्य वीर डेरे के भीतर पालकियों में बैठे अलाउद्दीन के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे।

जब आध घंटा बीत गया और भीमसिंह न लौटे, तब तो अलाउद्दीन के मन में खटका उत्पन्न हुआ। खटका उत्पन्न होते ही वह बड़ा क्रुद्ध हुआ और उठकर वह मूर्ख उन पालकियों के निकट चला गया। फिर क्या था, जैसे सिंह मृग पर झपटता है, वैसे ही राजपूत वीर पालकियों से बादशाह की ओर लपके। पर वह भली भाँति रक्षित था। अतः दोनों ओर से बड़ा भयंकर संग्राम होने लगा। साथ ही एक बादशाही सैनिक दल भीमसिंह को पकड़ने के लिये चित्तौर की ओर चला। पर उन वीर राजपूतों ने मार्ग रोक कर उस दल को आगे न जाने दिया। इन वीरों में से जब तक एक भी जीवित रहा तब तक शत्रु, भीमसिंह को पकड़ने के लिये, आगे पैर न रखने पाए!

भीमसिंह के लिये पहले ही से एक बड़ा तेज घोड़ा कसा कसाया तैयार था। वे उस घोड़े पर चढ़ सकुशल दुर्ग में

जा पहुँचे। उधर यवन सेना ने चित्तौर के सिंहद्वार पर पहुँचकर आक्रमण किया। चित्तौर के प्रधान प्रधान वीरों ने यवनों से घोर संग्राम किया। इस युद्ध में वीरवर गोरा और उनके भतीजे वीर बादल ने ही सब से अधिक वीरता दिखलाई थी। उनकी वीरता और तेज देखकर अन्य राजपूत सैनिकों का भी उत्साह बहुत कुछ बढ़ गया था।

बारह वर्ष के वीर राजपूत बालक बादल का अद्भुत रण-कौशल देखकर यवन सेना विस्मित हो गई। उस वीर बालक की तलवार और भाले ने अनेक मुसलमानों को अनंत काल के लिये धराशायी बनाया। उसके अपूर्व रण-चातुर्य से अनेक रण-विशारद मुसलमानों का अहंकार चूर्णित हो गया। पद्मिनी के मान और शिशोदिया कुल के गौरव की रक्षा करना ही बादल का मुख्य उद्देश्य था। अपने उद्देश्य की अंशतः सिद्धि कर वीरवर गोरा अनंत काल के लिये शस्त्रशय्या पर सो गए। इन वीर गोरा का अनेक वीर राजपूतों ने साथ दिया। इस भयानक संग्राम के इने गिने राजपूत और केवल वीर बालक चित्तौर को लौट आये। राजपूतों के अतुलित उत्साह और वीरता को देख, तथा अपनी बहुसंख्यक सेना का नाश विचार, अलाउद्दीन को कुछ दिनों के लिये युद्ध से मुँह मोड़ना पड़ा।

हम ऊपर कह चुके हैं कि इस युद्ध में वीर गोरा को अपने प्राण उत्सर्ग करने पड़े थे। इनका भतीजा वीर बालक बादल जब रुधिर में डुबा हुआ चाची के पास गया, तब उसे अकेले आते

देख राजपूत नारी के मन में बड़ा विषाद उत्पन्न हुआ। पर इसके लिये यदि धीरज बँधानेवाली कोई बात थी तो यही कि उसके स्वामी वीरवर गोरा ने स्वदेश और आत्म-सम्मान की रक्षा करते हुए अपने प्राण गँवाए थे।

वीरवर बालक बादल को चुपचाप अपने सामने खड़ा देख गोरा की शोकार्ता विधवा ने धीरे धीरे कहा—

गोरा की स्त्री—बेटा बादल ! और अब क्या कहोगे ? मैं सब जान गई। अब जो मैं पूछती हूँ, सो बतलाओ। मेरे प्राणेश्वर ने संग्राम में कैसी वीरता प्रकाशित करके देह त्यागी ?

बादल—(नेत्रों में आँसू भरकर) मैया ! मैं चाचा की वीरता का कैसे वर्णन करूँ। आज अकेले उन्हीं के वीर विक्रम से शिशोदिया कुल के मान और गौरव की रक्षा हुई है। शत्रु की अगणित सेना को बात की बात में चाचा ने तिनके के समान काट गिराया। मैंने तो केवल उनके पीछे पीछे घूम घूमकर उनके किए हुए शत्रु के शरीरों के दो दो टुकड़ों को घायल किया है। उनके कराल ग्रास से जो दो चार मुसलमान बच गए थे, मैं तो केवल उन्हीं को मार पाया था। वे अमानुषिक वीरता प्रदर्शित कर लाल शय्या पर, शत्रुओं के मृतक शरीरों के बिछौनों पर, अनंत निद्रा में सो रहे हैं। उनके तकिए की जगह एक यवन शाहजादे का दो टुकड़े किया हुआ शरीर रखा है।

गोरा की स्त्री—बेटा बादल ! मैं अभी अपने प्राणेश्वर की वीरता का वृत्तांत सुनकर तृप्त नहीं हुई। मुझे उनकी वीरता का हाल और सुनाओ।

बादल—माता ! मैं अपने चाचा की वीरता का अधिक क्या वर्णन करूँ। उनके अमानुषिक रण-कौशल से चकित और भीत हो शत्रु-पक्ष ने भी उनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की थी।

यह सुन गोरा की विधवा पत्नी ने हँसकर बादल से बिदा माँगी और—'विलंब करने से मेरे सर्वेश्वर कहीं मेरा तिरस्कार न करें"—कहती हुई उस वीर सती ने धधकती हुई आग में अपने शरीर की आहुति दे दी।

इस चढ़ाई के कुछ ही दिनों पीछे अलाउद्दीन ने फिर चित्तौर पर चढ़ाई की। इस बार वह बड़ी सेना लेकर आया। अब की बार बड़ी कठिनाई इसलिये पड़ी कि पहली लड़ाई ही में चित्तौर के बड़े बड़े नामी योद्धा मारे जा चुके थे। उनके मारे जाने से जो क्षति हुई थी, वह पूरी भी नहीं हो पाई थी कि चित्तौरवासियों को एक प्रबल पराक्रमी बलवान् शत्रु का सामना करने का अवसर फिर आ पहुँचा। अब क्या किया जाय ? इस समय चित्तौर निराधार था। पर चिंता क्या है ! यद्यपि चित्तौर के अनेक वीर प्रथम लड़ाई में मारे जा चुके थे, तो भी चित्तौर अभी वीर-शून्य नहीं हुआ था। यह संभव नहीं है कि बिना युद्ध के स्वाधीनता की लीलाभूमि चित्तौर को मुसलमान

हस्तगत कर लें। यवनों के चित्तौर को घेरते ही चित्तौर के वीर राजपूत क्रोध के मारे बदला लेने के लिये उन्मत्त से हो गए।

इस बार चित्तौर के राणा लक्ष्मणसिंह स्वयं मुसलमानों का सामना करने को अग्रसर हुए। पर रणक्षेत्र में जाने के पहले उन राजपूतों ने जौहर करना परमावश्यक समझा।

जौहर का अर्थ यह है कि प्राचीन आर्य वीर जब यह समझ लेते थे कि अब हम युद्ध-भूमि से जीते जागते न लौट सकेंगे, तब वे अपनी स्त्रियों को तो प्रज्वलित अग्नि में भस्म कर उनके सतीत्व की रक्षा से निश्चिंत हो जाते थे और स्वयं केसरिया कपड़े पहनकर निश्चिंत और प्रसन्नवदन रणक्षेत्र में अवतीर्ण होते थे।

चित्तौरवासियों के लिये भी आज वही समय उपस्थित हुआ है। शत्रुओं की संख्या अपार है। अब चित्तौर की रक्षा का कोई उपाय नहीं सूझता, अतः जौहर का अनुष्ठान भी अनिवार्य है।

पाठक सुनिए, चित्तौरवासी किस प्रकार इस लोमहर्षणकारी व्रत का उद्यापन करते हैं। राजप्रासाद के बीचोबीच पृथिवी के भीतर एक बड़ी सुरंग थी। वह इतनी गहरी थी कि दिन में भी उसमें अंधकार ही बना रहता था। उसी सुरंग में साल की लकड़ियाँ एकत्र कर एक विशाल चिता तैयार की गई। चिता तैयार कर उसमें आग भी लगा दी गई। फिर देखते ही देखते बाल खोले हुए अगणित राजपूत नारियाँ हृदय-विदारक शोक संगीत से उस रनिवास को प्रतिध्वनित करती हुई

उस सुरंग की ओर अग्रसर हुईं। उनके साथ महारानी पद्मिनी भी थीं। धन्य हैं वे राजपूत और धन्य हैं वे राजपूत ललनाएँ। राजपूत खड़े खड़े देख रहे हैं कि उनकी स्नेहमयी जननी, आनंद-दायिनी भगिनी, कन्याएँ, प्राणोपम हृदयहारिणी अर्द्धांगिनी प्रज्वलित अग्नि में भस्म होने को जा रही हैं और वे धीर गंभीर भाव से उस दृश्य को देखकर तिल भर भी विचलित नहीं होते। धन्य हैं वे राजपूत बालाएँ जो अपने सतीत्व की रक्षा के लिये इस क्षणिक जीवन को तुच्छ समझ अपने शरीर की आहुति देते तिल भर भी भीत, चकित अथवा चिंतित नहीं होतीं। हमसे लोगों का ऐसे दृश्य देखकर अविचल भाव धारण करना तो एक ओर रहा, उस समय के दृश्य की कल्पना मात्र ही हमारे नेत्रों से जल की धार बहाने लगती है। ऐसे साहसी मनुष्यों और स्त्रियों की कल्पना करना भी हम जैसे आजकल के साहस-हीन पुरुषों के लिये आकाश-कुसुमवत् एक अनहोनी सी बात है। जो हो, इतिहास और राजपूतों के चारणों के ग्रंथ साक्षी देते हैं कि इसी भारतवर्ष में, इसी हमारी जन्मभूमि में, हमारे ही पूर्वपुरुषों में ऐसा साहस था—हमारी प्राचीन समय की स्त्रियों को अपना सतीत्व इतना प्यारा था कि राजसी भोगविलास को वे तुच्छातितुच्छ समझ, सतीत्व-रक्षा में शंका उपस्थित होने पर अपने शरीर को भस्म कर डालती थीं, पर सतीत्व को नष्ट नहीं होने देती थीं। हा, हमारी कल्पना से अतीत वह समय आज कहाँ गया ?

इस कठोर व्रत का उद्यापन कर महाराणा लक्ष्मणसिंह केसरिया कपड़े पहन और केसरिया चंदन का त्रिपुंड लगा शस्त्रों से सज्जित हो ससैन्य गढ़ से निकले। अपने शून्य सिंहासन का उत्तराधिकारी बनाने को राणा ने अपने पुत्र अजयसिंह को रण में जाने से रोका। वे अपने साथ कितने ही सैनिकों को लिए हुए शत्रु के शिविर में होकर चित्तौर छोड़ कैवलवाड़ा देश को चले गए। अब महाराणा सब प्रकार से निश्चिंत हो गए। अब देर ही क्या है। मारू बाजे के बजते ही सरदारों और सामंतों सहित राणा नगर का फाटक खोल शत्रु की विशाल सेना पर टूट पड़े। वीर राजपूतों की तलवार से असंख्य मुसलमान काटे गए। परंतु इससे उस विशाल यवन-वाहिनी का कुछ भी न बिगड़ा। देखते ही देखते ये राजपूत वीर उस समुद्रवत् विशाल यवन-सेना में न जाने कहाँ बिला गए।

बस चित्तौर का पतन हुआ। पद्मिनी के पाने की आशा से अलाउद्दीन शीघ्रतापूर्वक नगर में घुसा। पर जिस समय ढूँढ़ने पर भी उसे भीमसिंह की पतिव्रता पद्मिनी का पता न लगा और उसने उस सुरंग से निकलते हुए धूमस्तूप को देखा, उस समय उसकी निद्रा टूटी। उसके मन पर हिंदू नारी के सतीत्व का माहात्म्य अंकित हुआ। उसके मुँह से सहसा निकल पड़ा—

"आए थे गुल के वास्ते बस खार ले चले।"

इस प्रकार वीरप्रसविनी चित्तौर पुरी का ध्वंस कर और वहाँ के राजसिंहासन पर अपने अनुगत मालदेव नामक एक सरदार को बैठाकर अलाउद्दीन अपनी राजधानी को लौट गया।

पर महाराणा लक्ष्मणसिंह के पुत्र अजयसिंह को रात दिन यही चिंता लगी रही कि हम किस प्रकार अपनी मातृभूमि चित्तौर नगरी को शत्रु-पक्ष के हाथ से निकालें।

आओ पाठको, देखें चित्तौर का उद्धार अब किस प्रकार होता है।

हम्मीरसिंह

पिछले पृष्ठों में हमारे पाठक पढ़ चुके हैं कि लक्ष्मणसिंह के पुत्र कुमार अजयसिंह अपने पिता से बिदा होकर कैवलवाड़ा देश में चले आए थे।

मेवाड़ प्रांत में पश्चिम की ओर अरावली पर्वतमाला की तलैटी में एक समृद्धिशाली देश है, जिसका नाम है शेरोन्नल। इसी देश के ठीक ऊपर कैवलवाड़ा बसा हुआ है। यह देश असंख्य पहाड़ियों के बीच में बसा हुआ है। इन पहाड़ियों के बीच में दो चार गुप्त मार्ग भी हैं। देखने में कैवलवाड़ा बड़ा मनोहर है। इसके चारों ओर सघन वन विराजमान है। बीच बीच में असंख्य स्रोतस्विनी मंद गति से कलकल शब्द करती हुई प्रवाहित हो रही हैं। स्थान स्थान पर बड़े बड़े हरे भरे खेत और चरागाह हैं। यहाँ पर भाँति भाँति के स्वादिष्ठ कंद-मूल फल भी पाए जाते हैं। यह देश २५ कोस के विस्तारमें है। यह पृथिवी-तल से आठ सौ और समुद्र-तल से दो सहस्र हाथ ऊँचा है। इसी देश में अजयसिंह जा विराजे।

सर्वस्व खोकर और निस्सहाय होने पर भी वीर अजय अभी अपनी मातृभूमि के उद्धार का उपाय सोचने से विमुख नहीं हुए हैं। जिस समय इनके पिता लक्ष्मणसिंह ने इन्हें बिदा कर रणयात्रा की थी, उस समय उन्होंने अजय से कहा

था कि तुम्हारे पीछे तुम्हारे बड़े भाई अरिसिंह का पुत्र सिंहासन पर बैठेगा। पिता की इस अंतिम आज्ञा का पालन करने की चिंता अजय को हर समय सताया करती थी; क्योंकि उन्हें अपने भतीजे का कहीं पता नहीं लगता था। साथ ही अजयसिंह के जो पुत्र थे, वे निकम्मे थे। इधर उनकी मानवी लीला संवरण का समय भी निकट आ रहा था। जिस भतीजे के लिये महाराणा लक्ष्मणसिंह ने आज्ञा दी थी, उसका नाम हम्मीरसिंह था। इसी हम्मीर ने नष्ट हुए शिशोदिया कुल के गौरव का उद्धार किया था। ऐसे वीर के जन्म का वर्णन सुनना कौन न चाहेगा। अतः हम उसे यहाँ संक्षेप में देते हैं।

एक दिन की बात है। लक्ष्मणसिंह के पुत्र अरिसिंह अपने कई एक सरदारों के साथ अंदवा नामक वन में आखेट के लिये गए। वहाँ उनके तीर का निशाना एक शूकर हुआ। निशाना लगने पर वह शूकर मरा नहीं और घायल होकर पास के जुआर के एक खेत में घुस गया। अरिसिंह ने उसका पीछा किया। उस खेत के बीच में एक मचान बँधा था और उस पर एक स्त्री थी। इन्हें देख वह स्त्री मचान से उतरी और नम्रतापूर्वक बोली—"आप खेत में न घुसें। मैं अभी आपके शिकार को लाए देती हूँ।"

अब उस बाला ने जुआर का एक सैटा, जो सात आठ हाथ लंबा था, उखाड़ लिया। फिर उसे एक ओर छुरी से पैना कर भाले की तरह बनाया। फिर वह अपने मचान

पर चढ़ गई और उस सैटे को धनुष पर रखकर ऐसे ज़ोर से छोड़ा कि उसके लगते ही शूकर तत्काल मर गया। उसके मरते ही उस बाला ने मचान से उतर और उस शूकर को उठा राजकुमार के सामने रख दिया। फिर वह अपने काम में लगी।

यद्यपि राजकुमार राजपूत बालाओं के भुजबल से सुपरिचित थे, तथापि उन्होंने ऐसा अद्भुत कांड अपने नेत्रों से कभी नहीं देखा था। उस बाला का यह वीर विक्रम देख और उसकी सराहना करते हुए राजकुमार अपने पार्श्वचरों के साथ एक नदी के तट पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने भोजन किया। पर भोजन के समय भी चर्चा उसी बाला की होती रही। वे लोग भोजन कर ही रहे थे कि इतने में उसी खेत की ओर से मिट्टी का एक ढेला तड़ाक से राजकुमार के घोड़े को लगा। उसकी चोट से घोड़े की टाँग टूट गई। यह अद्भुत कांड देख सब की दृष्टि उस खेत की ओर गई। तब उन लोगों ने देखा कि वही बाला मचान पर बैठी ढेले फेंक फेंककर पक्षियों को उड़ा रही है। तब सब लोगों का विस्मय दूर हुआ।

वह किसान की बाला भी यह देख बड़ी लज्जित हुई। उसने राजकुमार के निकट जाकर उनसे क्षमा माँगी। उस बाला की निर्भयता, शिष्टता और शील का राजकुमार के मन पर अच्छा प्रभाव पड़ा। अतः क्षमा-प्रदान की बात तो एक ओर रही, राजकुमार ने उसके इस दोष को दोष ही न समझा।

प्रत्युत उस बाला का वह कृत्य राजकुमार के अनुराग के उभड़ने का कारण हुआ। राजकुमार के चित्त पर वह युवती चढ़ गई।

जिस समय राजकुमार अपने घर की ओर जा रहे थे, उस समय मार्ग में वह कृषक बाला फिर मिली। उस समय उस बाला के सिर पर तो दूध का बर्तन था और दोनों हाथों से वह भैंस के दो पड़ों को हाँक रही थी। अरिसिंह के साथियों में से एक ने उसके सिर का बर्तन गिराने के अभिप्राय से अपने घोड़े को उसकी ओर कुदाया। वह बाला उसका अभिप्राय समझ गई। उसने एक पेड़ को उस सवार के घोड़े की टाँगों में ऐसे लिपटा दिया कि घोड़ा सवार सहित धड़ाम से गिर पड़ा। यह देख सब लोग दंग रह गए।

घर पहुँचकर राजकुमार ने उस कन्या की खोज-खबर मँगवाई। खोजने पर विदित हुआ कि वह कन्या चंदानी कुल के एक दीन राजपूत की कन्या है; और राजपूत-कन्या होने पर भी उसके साथ राजकुमार का ब्याह नहीं हो सकता। अगले दिन राजकुमार ने अपने मित्रों सहित उस बाला के पिता से मिलना चाहा। वह राजपूत स्वयं राजकुमार का आशय जान उनके पास आया। राजकुमार ने उसका बड़ा आदर-सत्कार किया। पर विवाह की चर्चा चलने पर उस बूढ़े राजपूत ने राजकुमार का प्रस्ताव अस्वीकृत किया। तब तो राजकुमार मन ही मन बहुत उदास हुए। बूढ़ा उठकर अपने घर चला आया और सारा वृत्तांत अपनी स्त्री से कहा।

उसकी स्त्री उससे कहीं अधिक समझदार थी, अतः स्वामी का राजकुमार के साथ अनुचित व्यवहार सुन वह दुःखी ही न हुई बल्कि उसने अपने स्वामी से बहुत कुछ कहा सुना भी। तब उस बूढ़े की आँखें खुलीं और शीघ्र ही वह फिर राजकुमार के पास गया और राजकुमार के प्रस्तावानुसार कार्य करने की उसने इच्छा प्रकट की। उस बाला का विवाह राजकुमार अरिसिंह के साथ हो गया। उसी बलवती राजपूत बाला के गर्भ और अरिसिंह के औरस से चित्तौर के उद्धारकर्त्ता हम्मीरसिंह का जन्म हुआ था।

जिस समय चित्तौर का पतन हुआ था, उस समय हम्मीर की अवस्था बारह वर्ष की थी और वे अपनी ननिहाल में कृषक जीवन का आनंद अनुभव कर रहे थे। पीछे से अजयसिंह के बहुत खोज कराने पर हम्मीर का पता चला और वे ननिहाल से बुलाए गए। बारह वर्ष के हम्मीर ने शांतिमय जीवन को छोड़, स्वदेशोद्धार के लिये कठोर व्रत धारण किया।

एक भील सरदार महाराणा अजयसिंह का बड़ा कट्टर शत्रु था। उसका नाम था मुञ्ज। सब से पहले अजयसिंह ने हम्मीर को मुञ्ज पर चढ़ाई करने को भेजा। राजकुमार हम्मीर अस्त्र-शस्त्र से सजकर उस असभ्य शत्रु का संहार करने के निमित्त अग्रसर हुए। इस होनहार वीर ने जाते समय चाचा के चरणों पर हाथ रखकर प्रतिज्ञा की थी कि "मुञ्ज का सिर काटे बिना मैं न आऊँगा।" अपनी इस प्रतिज्ञा के अनु-

सार थोड़े ही दिनों बाद मुञ्ज का सिर भाले की नोक पर रखे हम्मीर आते हुए दिखाई पड़े। चाचा के पास जा और उस कटे सिर को उनके चरणों पर रख हम्मीर ने कहा—"चाचा जी! आप अपने शत्रु के सिर को पहचान लीजिए।" उस सिर को देख अजयसिंह के आनंद की सीमा न रही। उसी समय उन्हें अपने पिता की भविष्यद्वाणी का स्मरण हो आया। प्रसन्नचित्त राणा ने तत्क्षण विजयी हम्मीर का मुख चूमकर उस कटे हुए सिर से बहते हुए रक्त से कुमार के ललाट पर राजतिलक कर दिया। चचेरे भाई के ललाट पर राजतिलक देख, अजयसिंह के दोनों पुत्र हताश हुए। जो बड़े थे, उनके हृदय पर इस घटना से बड़ी चोट लगी और वे कैवलवाड़े ही में मर गए। उनके छोटे भाई सुजनसिंह दूसरे राज्य में इस अभिप्राय से भेज दिए गए कि कहीं वे बखेड़ा न करें। सुजनसिंह अत्यंत दुःखी होकर दक्षिण देश में जाकर बस गए*।

राजस्थान में "टीका दौड़" एक रीति है। राजपूत राजा जब राजसिंहासन पर बैठते हैं, तब वे अपने सामंतों और सैनिकों सहित अपने निकटवर्ती अथवा दूरवर्ती किसी शत्रु के राज्य पर चढ़ाई करते हैं। इसी प्रथा के अनुसार हम्मीर ने राजसिंहासन पर बैठते ही अपने चाचा के बड़े पुराने वैरी बलैचा के राज्य पर आक्रमण किया और उसके एक दुर्ग पर

---

* कहते हैं कि इन्हीं सुजनसिंह के वंश में महाराज छत्रपति शिवाजी उत्पन्न हुए थे।

अधिकार जमा लिया। इस शकुन को देख सब लोगों को विश्वास हो गया कि हम्मीरसिंह अवश्य ही एक न एक दिन चित्तौर के नष्ट गौरव का उद्धार करेंगे।

हम्मीर ने किस प्रकार मुसलमान शत्रुओं को नीचा दिखाया, अब हम संक्षेप से इसी का वर्णन करते हैं।

हम्मीरसिंह के पास इतना जनबल न था कि प्रकाश्य रूप से दिल्लीश्वर जैसे बहु-जनबल-युक्त के साथ युद्ध में प्रवृत्त हों, अतः उन्हें ऐसे उपायों का आश्रय ग्रहण करना पड़ा जिसके द्वारा वे थोड़े से सैन्य-बल से विपुल बलशाली यवन-सम्राट् को छका सकें। केवल परकोटे युक्त नगरों और ग्रामों को छोड़ अन्य सब जन-पदों को वे उजाड़ने लगे। उन्होंने यह घोषणा प्रचारित करवाई कि—"जो लोग महाराणा हम्मीरसिंह को अपना प्रभु मानते हों, वे अपने अपने वास-स्थान को छोड़कर सपरिवार पूर्वी और पश्चिमी प्रांतवाले गिरिमार्ग के भीतर आ बसें। जो ऐसा न करेंगे, वे देश-शत्रु समझे जायँगे और उनके साथ बड़ी कड़ाई का व्यवहार किया जायगा।" इस घोषणा के प्रचारित होते ही सहस्रों नरनारी अरावली पर्वत-माला के भीतर अपने रहने के लिये भवन बना वहाँ बस गए। हम्मीर ने अपने पुश्तैनी शत्रु मुसलमानों पर अत्याचार करने में कोई बात उठा नहीं रखी। जब लोग मेवाड़ के जनपदों को छोड़ अरावली पर्वत-माला के भीतर जा बसे, तब राज्य के मार्ग और घाट दुर्गम हो गए। जो शत्रु उन मार्गों से आने का साहस करते, राणा

उन पर टूट पड़ते और उनको मारकर फिर अपने एकांत-स्थित आवास-स्थान को लौट जाते थे। शत्रुओं ने हम्मीर को नीचा दिखाने के लिये बड़े बड़े प्रयत्न किए, पर वे हम्मीर का बाल भी बाँका न कर सके, प्रत्युत स्वयं नष्ट हो गए। हम्मीर के इस आचरण से मेवाड़ प्रांत के पर्वत की तलैटियाँ उजाड़ श्मशान बन गईं।

जिस समय मेवाड़ की यह दशा हो रही थी, उसी समय अलाउद्दीन के बनाए चित्तौर के राजा मालदेव के यहाँ से हम्मीर के पास सगाई की बातचीत आई। मालदेव के हम्मीर घोर शत्रु थे, अतः लोग न समझ सके कि मालदेव ने किस अभिप्राय से यह अनोखा संबंध करना विचारा है। यद्यपि इस संबंध को हम्मीरसिंह के मंत्रियों ने शंका की दृष्टि से देखा, तथापि महाराणा हम्मीर ने उनकी बात न मानी और मालदेव की भेजी सगाई मान ली। हम्मीर को जब उनके इष्टमित्रों ने अनेक प्रकार से दबाया, तब उन्होंने धीर और गंभीर भाव से से कहा—"तुम लोग भवितव्यता की चिंता से इतने विकल क्यों हो रहे हो? मालदेव की कपट चाल चाहे जो कुछ हो, पर नारियल लेने में हानि ही क्या है? मान लो, यह उसकी कपट चाल ही हो तो भी मैं क्यों डरने लगा? इस विवाह के होने से मुझे इतना अवसर तो मिलेगा कि मैं अपने पितृ-पितामहादि के आवासस्थान के एक बार दर्शन तो कर सकूँगा। राजपूतों का कर्त्तव्य है कि वे सहस्रों विपत्तियों का सामना करने को सदा प्रस्तुत रहें। यदि राजपूत वीर साहस करके चलेंगे तो विजय-

लक्ष्मी अवश्य ही उनकी अंकशायिनी होगी। युद्ध में घायल होना और अपना स्थान छूट जाना कोई बड़ी बात नहीं है, परंतु अगले ही दिन विजय-मुकुट धारण कर सिंहासन पर बैठना कितने महत्व की बात है।"

राजकुमार की इस प्रतिज्ञा को सुन फिर किसी ने उनसे कुछ भी न कहा।

विवाह की तैयारियाँ हो गईं। हम्मीरसिंह ५०० चुने हुए घुड़सवारों को साथ ले चित्तौर की ओर प्रस्थानित हुए। आज की यात्रा का मुख्य उद्देश्य चित्तौर का उद्धार करना है। हम्मीर घर से चलते समय आज यह प्रतिज्ञा करके चले हैं कि या तो अपने पितरों की जन्मभूमि का उद्धार करेंगे या चित्तौर के प्रांगण में प्राण विसर्जन करके स्वर्गवासी पितरों से जा मिलेंगे।

हम्मीर की बरात क्रमशः चित्तौर के समीप पहुँची। दूर से नगर का आकाश-स्पर्शी सिंहद्वार दिखलाई पड़ने लगा। उनकी अगवानी को मालदेव के पाँच पुत्र आए थे। वे बड़ी आवभगत के साथ अपने भावी बहनोई को नगर के भीतर ले चले। पर नगर के सिंहद्वार पर तोरण या विवाह सूचक किसी प्रकार का चिह्न न देखकर हम्मीर का माथा ठनका। तत्क्षण उन्हें अपने इष्टमित्रों का कहना स्मरण हो आया; तथापि वे विचलित न हुए। उन्होंने मालदेव के पुत्रों से सिंहद्वार पर विवाह-सूचक चिह्नों के न होने का कारण पूछा। उत्तर में राजकुमारों ने जो कुछ कहा, यद्यपि वह संतोषजनक न था

तथापि हम्मीर का मन शांत हो गया। क्रमशः बरात चित्तौर नगर के बीच में पहुँच गई। हम्मीर ने इस नगरी में आज पहले पहल ही अपने पूर्वपुरुषों की असीम वीरता और गौरव की विशाल स्तंभ-श्रेणी देखी थी। उन्हें देखते ही हम्मीर के मन में अनेक प्रकार के सुख, दुःख और चिंतारूपी लहरें लहराने लगीं। मन में अनेक भावों को दबाए हुए हम्मीर अपने पूर्व-पुरुषों की बनाई हुई अटारियों के भीतर पहुँचे। वहाँ पर मालदेव तथा उसके पुत्र वनवीर ने सरदारों सहित हाथ जोड़-कर हम्मीर के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया। कुमार विवाह-मंडप में पहुँचे। पर वहाँ भी किसी प्रकार की धूमधाम न थी। मालदेव ने शीघ्र ही अपनी पुत्री को लाकर हम्मीर के हाथ में समर्पित किया। परंतु विवाह की अन्य कोई रीति पूरी न की गई। केवल ग्रंथि-बंधन हुआ और वर कन्या का हाथ एक दूसरे के हाथ में थमा दिया गया। कुल-पुरोहित ने धीरता और नम्रतापूर्वक कहा—"धीरज रखिए, कल समस्त मनोकामनाएँ पूरी होंगी।" हम्मीर पुरोहित के इन शब्दों का मर्म न समझ सके। उनके मन में अनेक प्रकार के भ्रम और चिंताएँ उत्पन्न होने लगीं।

तदनंतर वरकन्या दोनों एकांत गृह में पहुँचाए गए। पर हम्मीर उस समय चिंता-सागर की लहरों में पड़े टकरा रहे थे। उनकी यह दशा देख वधू उनके चरणों में गिर पड़ी और नम्रता-पूर्वक कहने लगी—

वधू—प्राणनाथ ! इस दासी का अपराध नहीं है। मैं आपकी विकलता का कारण जानती हूँ। पिता ने जिस कारण इस दासी को चुपके चुपके आपको समर्पण किया है, उसे मैं जानती हूँ। यदि आज्ञा पाऊँ तो निवेदन करूँ।

तब हम्मीर का ध्यान नवीन वधू की ओर आकर्षित हुआ। उन्होंने उसके मुख पर सुकुमारता और सरलता के चिह्न देखे। तब तो उन्होंने आदर और प्रेमपूर्वक उसे भूमि पर से उठाया और अभय प्रदान कर उस रहस्य को प्रकाश करने की अनुमति दी। तब राजपूत बाला ने कहना आरंभ किया—

वधू—प्राणनाथ ! आप विस्मित न हों, मैं विधवा हूँ। परंतु इस दासी से आप घृणा न करें। बाल्यावस्था में किसी राजकुमार के साथ मेरा विवाह हुआ था। उस समय मैं इतनी छोटी थी कि मुझे अपने विवाह तक का स्मरण नहीं है। पर जो कुछ मैंने अपनी जननी के मुख से सुना है, मैं वही आपसे कहती हूँ। विवाह के कुछ ही दिनों बाद मेरे स्वामी किसी युद्ध में मारे गए। तभी से मैं विधवा और अनाथा हूँ। पर आज आपको पाकर मेरा मन सुखी हुआ है। पर आगे क्या होगा, यह मैं नहीं कह सकती।

इतना कह बाला चुप हो गई। उसके मुख से आगे कोई बात न निकल सकी। उसके नेत्रों से अविराम अश्रु-धारा प्रवाहित होने लगी। उस सरलहृदया बाला की सच्ची

कहानी सुन हम्मीर के चित्त में दया का समुद्र उमड़ आया। उन्होंने अपने हाथ से उसके आँसू पोंछे और भली भाँति समझाया बुझाया। उनका भी सन्देह दूर हुआ। मालदेव ने चालाकी से हम्मीर का जो अपमान किया था, तेजस्वी महाराणा ने वह अपमान अपनी अर्द्धांगिनी का मुख देखकर सह लिया। परंतु उस पतिव्रता राजपूत बाला ने इस अपमान का बदला लेने के लिये स्वयं प्राणपति को उत्साहित किया और पति के साथ परामर्श कर चित्तौर के उद्धार का उपाय निश्चित किया।

हम्मीर ने अपनी स्त्री के परामर्शानुसार अपने ससुर से जलधर नामक एक अति चतुर कर्मचारी को यौतुक में माँग लिया। इसके बाद एक पक्ष चित्तौर में रह हम्मीरसिंह अपनी स्त्री और जलधर सहित वहाँ से प्रस्थानित हो अपनी राजधानी में पहुँच गए। वहाँ बैठकर वे चित्तौर के उद्धार का अवसर देखने लगे।

समय पाकर मालदेव की लड़की के गर्भ से हम्मीर के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस आनंदोत्सव के उपलक्ष में मालदेव ने हम्मीर को वह समस्त पहाड़ो देश दे डाला जो उनके अधिकार में था। नवजात राजकुमार का नाम क्षेत्रसिंह रखा गया। जब क्षेत्रसिंह ग्यारह वर्ष के होकर बारहवें वर्ष में पड़े, तब एक ज्योतिषी ने आकर कहा—"इस राजकुमार पर चित्तौर के क्षेत्रपाल की कुदृष्टि पड़ी है। यदि

इसकी शांति नहीं की जायगी तो राजकुमार का अमंगल होना संभव है।"

ईश्वर की इच्छा से कभी अमृत विष और विष अमृत हो जाया करता है। इसी नियमानुसार महारानी के पक्ष में यह कुअवसर भी सुअवसर हो गया। रानी ने इस सुअवसर के हाथ लगने पर अपने पति के चिर-कालीन मनोरथ की सिद्धि का उपाय सोच निकाला। मालदेव को क्षेत्रपाल की शांति के लिये पत्र लिखा गया। पत्र पाते ही मालदेव ने अपनी लड़की और धेवते को लाने के लिये अनेक सशस्त्र सैनिक भेजे। महारानी उनकी रक्षा में पितरालय गईं। वहाँ पहुँचकर देखा कि उनके पिता अपने सामंतों और सरदारों को लिए हुए भादेरिया के मीरों का दमन करने के लिये गए हुए हैं। यही अवसर हम्मीरसिंह की मनोरथसिद्धि के लिये उपयुक्त समझा गया।

क्षेत्रसिंह की माता ने जलधर की सहायता से उन सरदारों को अपने हस्तगत कर लिया जो मालदेव के साथ न जाकर चित्तौर की रक्षा के लिये वहाँ रह गए थे। इतने में महाराणा हम्मीरसिंह भी दल-बल सहित चित्तौर के निकट जा पहुँचे। उन्होंने वागोर नामक स्थान में समाचार पाया कि वहाँ सब मामला ठीक है। यह समाचार पाकर फिर वे भला क्यों रुकने लगे! तुरंत वे चित्तौर जा पहुँचे। नगर में पहुँचने के बाद वहाँ लोगों ने उनके काम में बड़ी बाधा डाली;

और यदि वे वीरतापूर्वक उनका सामना न करते तो उन्हें अपनी जान से भी हाथ धोना पड़ता। पर हम्मीर ने सब बाधा-विघ्नों को दूर कर दिया और अपने पूर्वपुरुषों की जन्म-भूमि चित्तौर नगरी पर अधिकार कर लिया। हम्मीर का ज्योंही चित्तौर पर अधिकार हुआ, त्योंही वहाँ के बसने-वाले आबाल-वृद्ध और युवा पुरुषों ने शपथपूर्वक उनकी अधी-नता स्वीकृत की।

जब मालदेव शत्रु को जीतकर लौटे, तब उनका उपहास, करने के लिये चित्तौरवालों ने तोप की सलामी की जगह पटाखे छुड़ाए। पटाखों का शब्द सुनते ही मालदेव का माथा ठनका और नगर में घुसते ही उन्हें यथार्थ वृत्तांत तुरंत ही अवगत हो गया। चित्तौर के सरदारों को हम्मीर ने पहले ही अपने वश में कर लिया था। अतः मालदेव को चित्तौर के राजसिंहासन के पाने की आशा को तिलांजलि देनी पड़ी। अन्य उपाय न देख वे अपनी इस दुःख-कहानी को सुनाने के लिये अला-उद्दीन के उत्तराधिकारी के पास दिल्ली गए। महाराणा लक्ष्मणसिंह की भविष्यद्वाणी पूरी हुई। चित्तौर का खोया हुआ अधिकार इस प्रकार महाराणाओं के वंश में पुनः आया। आज चित्तौरवासियों के आनंद की सीमा नहीं है। नगर में जिधर देखो, उधर चारों ओर आनंद ही आनंद छाया हुआ है। दुराचारी मुसलमानों के ग्रास से वीर-प्रसविनी चित्तौर नगरी को उन्मुक्त देख समस्त नर-नारी आनंदोत्सव मनाने लगे।

उनका ऐसा आनंदोत्सव मनाना ठीक ही था; क्योंकि वीर-केसरी बाप्पा रावल की सुवर्ण-प्रतिमा-खचित विजय-वैजयंती आज बहुत दिनों बाद चित्तौर गढ़ पर फहराती हुई दिखलाई दी थी। उसको देखते ही चित्तौर के निवासी कमलमीर के वन को त्यागकर पुनः अपने अपने घरों को लौट आए। सब ने हम्मीरसिंह को चित्तौर का उद्धारकर्त्ता माना और उनके झंडे के नीचे झुंड के झुंड वीर राजपूत आकर एकत्र होने लगे। इन लोगों ने हम्मीर की केवल अधीनता ही स्वीकृत न की, किंतु वे प्राणों को हथेली पर रखकर मालदेव का सामना करने को उद्यत हुए। हम्मीर ने भी इस सुअवसर को हाथ से निकल जाने देना अनुचित समझा।

इतने में सुना गया कि मालदेव के भड़काने से दिल्लीश्वर मुहम्मद खिलजी फौज-फाँटा लेकर चित्तौर पर आक्रमण करने आ रहा है। हम्मीर उसके आने की प्रतीक्षा न कर, उसकी गति रोकने को अग्रसर हुए। इस बार खिलजी केवल परास्त ही न हुआ, किन्तु उसे अपनी स्वाधीनता से भी हाथ धोना पड़ा। वह सीधा मार्ग छोड़कर मेवाड़ के पूर्व दिशा स्थित दुर्गम दुरारोह पहाड़ी मार्ग से आया। इससे उसे बड़ी हानि सहनी पड़ी। उन पहाड़ी विकट मार्गों के चक्कर में पड़ उसकी बहुत सी सेना मर गई और बेकाम हो गई। अंत में किसी प्रकार मरता जीता वह शिंगौली नामक स्थान पर पहुँचा और वहीं उसने छावनी डाली। महाराणा के सैनिकों ने वहाँ भी उस पर आक्रमण

किया। दोनों दलों में घोर संग्राम हुआ। मालदेव का पुत्र हरीसिंह हम्मीर के हाथ से मारा गया। खिलजी पकड़ा गया और उसे हम्मीर के बंदीगृह में रहना पड़ा। तीन महीने तक कारागार की यंत्रणाएँ भोग चुकने पर दिल्लीश्वर का सुख-स्वप्न टूटा और उसने अजमेर, रणथम्भोर, नागौर, शुआ शिवपुर और पचास लाख रुपए एवं सौ हाथी देकर छुटकारा पाया।

जिस समय खिलजी को महाराणा हम्मीरसिंह ने बिदा किया, उस समय उससे उन्होंने कहा था—

हम्मीरसिंह—खिलजी! यह न समझना कि दिल्लीश्वर समझकर मैं भयभीत हो तुमको छोड़ रहा हूँ। तुम जैसे सैकड़ों दुश्मनों के आक्रमण को रोकने का बल मेरी तलवार में है। दुःख की बात है कि तुमने बिना समझे बूझे चित्तौर पर चढ़ाई की, इसी से तुम को यह कष्ट सहना पड़ा। कष्ट ही तुमने नहीं भुगता, बल्कि तुम को जलील भी होना पड़ा। तिस पर भी यदि तुम्हें कुछ भी आत्माभिमान हो तो फिर चित्तौर पर चढ़ाई करना। हम्मीर स्वागत के लिये चित्तौर के द्वार पर खड़ा, तुम्हारी प्रतीक्षा करेगा।

अंत में अपने सारे प्रयत्नों को विफल हुआ देख, मालदेव के बड़े पुत्र वनवीर ने महाराणा हम्मीरसिंह की अधीनता स्वीकृत की। महाराणा ने अपनी ससुरालवालों की मान-मर्य्यादा की रक्षा के लिये वनवीर को नीमच, जीरण, रतनपुर और कैवारारि कितने ही देश दिए। इन नगरों के दानपत्र

पर स्वाक्षर करते समय महाराणा हम्मीरसिंह ने अपने साले वनवीर को संबोधन कर कहा था—

महाराणा—वनवीर ! देखना विश्वासघात न हो। सत्यनिष्ठा के साथ अपने उपकारकर्त्ता का बदला चुकाते रहना। एक समय तुम तुर्कों के दास थे, किंतु आज तुम स्वधर्मावलम्बी एक हिंदू के दास बनते हो। पिता का राज्य गँवाकर अवश्य ही तुम दुःखी हो सकते हो, पर थोड़ी देर के लिये तुम यह तो मन में विचारो कि वास्तव में यह राज्य है किसका ? मैंने किसके राज्य पर अपना अधिकार जमाया है ? हमने अपनी वस्तु ही पर अपना अधिकार जमाया है। जिन मेवाड़ी पहाड़ों पर हमारे पूर्वपुरुषों का रक्त लगा हुआ है, आज सौभाग्य से हम उसी देश के अधिपति हो पाए हैं। साथ ही हमें विश्वास है कि हमारा यह सौभाग्य सदा सब विपत्तियों में हमारा साथ देगा। स्मरण रखो, हम्मीर वह पुरुष नहीं है जो रमणी की पूजा में रत रहकर, इस धन और राज्य को गँवा दे।

प्रबल पराक्रमी हम्मीरसिंह का उत्तरोत्तर अभ्युदय देख, भारत के दूर दूर के राजा महाराणा की वश्यता स्वीकार कर उनके अनुगत बनने लगे।

चूँडा

हम्मीरसिंह की मृत्यु के बाद उनका पुत्र चेत्रसिंह चित्तौर के सिंहासन पर बैठा। इसने भी अपने पिता के तुल्य वीरता और पराक्रम दिखा अन्यान्य राज्यों को हस्तगत कर लिया था, पर इसका पूर्ण रूप से अभ्युदय नहीं होने पाया था कि यह हाड़ा सरदार की दुरभिसंधि से मार डाला गया। तदनंतर राणा लाखा चित्तौर के शून्य सिंहासन पर बैठे। इनके शासन-काल में मेवाड़ की अच्छी श्रीवृद्धि हुई थी। ये परम धार्मिक नृपतिवर्य थे। धर्म-रक्षा ही में इन्होंने अपने प्राण गँवाए। जिस समय गया धाम पर म्लेच्छों ने अत्याचार करना आरंभ किया, उस समय ये स्वयं गयाजी का उद्धार करने गए थे। गया धाम का बड़ी वीरता के साथ उद्धार तो कर दिया, पर उन्हें अपने प्राण गँवाने पड़े। इनके कई पुत्र थे। सबसे बड़े का नाम था चूँडा। राजपूत राजाओं की चिरकालीन प्रथा के अनुसार चित्तौर की शून्य राजगद्दी पर चूँडा को बैठना चाहिए था, पर वे उस पर न बैठे और अपने छोटे भाई को महाराणा की पदवी से विभूषित किया। ऐसा क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर बड़ा ही शिक्षाप्रद है; और चूँडा कैसे प्रतिज्ञा-वीर थे, इस बात का भी पता इससे

चलता है। चूँडा की वह भीष्म प्रतिज्ञा अब तक मेवाड़-भूमि में सादर स्मरण की जाती है। घटना यह है—

एक दिन की बात है, राणा लाखा अपने मंत्रियों, सामंतों और दरबारियों सहित दरबार में बैठे थे। इतने में मारवाड़ देशाधिपति राजा रिणमल का भेजा हुआ एक दूत सभा में पहुँचा। महाराणा लाखा ने उस दूत का यथोचित सत्कार किया और आवश्यक शिष्टाचार के अनंतर उससे आने का कारण पूछा। दूत ने उत्तर में कहा—"महाराणा के ज्येष्ठ राजकुमार चूँडा के साथ अपनी कन्या का विवाह ठहराने के लिये महाराज रिणमल ने नारियल देकर मुझे भेजा है।"

चूँडा उस समय दरबार में उपस्थित न थे; अतः महाराणा ने दूत से कुछ देर ठहरने के लिये कहा। साथ ही धीरे से यह भी कहा कि "चंड अभी आता होगा और इस संबंध के विषय में उसकी सम्मति भी तुम्हें अवगत हो जायगी।"

यह कह और अपनी डाढ़ी को चढ़ाकर, महाराणा ने मंद हास करके कहा—"मैं जानता हूँ, मेरे समान सफेद डाढ़ी-मूँछवाले के लिये कोई काहे को नारियल भेजेगा ?" महाराणा की इस उपहास भरी बात को सुन उपस्थित दरबारी भी मुसकरा दिए।

इतने ही में राजकुमार चूँडा ने राजसभा में आकर यह समाचार सुना। पिता ने कौतुकवश भी जिस संबंध को अपना बता दिया है, उसे राजकुमार चूँडा क्योंकर अपने लिये

स्वीकार करते ! चूँडा चिंतासागर में डूबने उतराने लगे। अंत में वे उस चिंतासागर के पार हुए और निश्चय किया कि यह संबंध मैं कभी अंगीकार न करूँगा। महाराणा को चूँडा का यह निश्चय जानने में विलंब न हुआ। तब महाराणा ने राजकुमार को बहुत कुछ ऊँच नीच समझा बुझाकर सगाई मानने के लिये अनुरोध किया, पर चूँडा न माने। तब तो महाराणा बड़ी चिंता में पड़े। एक ओर चूँडा की अटल प्रतिज्ञा, दूसरी ओर मारवाड़ाधिपति का घोर अपमान। अनेक प्रकार से समझाने बुझाने पर भी जब चूँडा राजी न हुए, तब महाराणा ने क्रुद्ध होकर भावी राज्याधिकारी को कटु वचन भी कहे, पर चूँडा धीर गंभीर भाव से पिता के उन वाक्यों को चुप-चाप खड़े खड़े सुनते रहे। अंत में महाराणा के धैर्य का बाँध टूट गया और वे रोष में भरकर बोले—

महाराणा—अच्छा ! राजा रिणमल की मान-रक्षा के लिये मुझे ही उनका भेजा नारियल ग्रहण करना पड़ता है। पर स्मरण रख, उस स्त्री के गर्भ से यदि कोई बालक उत्पन्न हुआ तो वही इस राज्य का अधिकारी भी होगा। उसके अधिकार में तू बाधा न डालेगा, इसकी तुझे शपथ खानी पड़ेगी।

इस कठोर वचन को सुनकर तेजस्वी चूँडा के शरीर का एक रोआँ भी न हिला। वह अचल अटल भाव से जहाँ का तहाँ खड़ा रहा और धीर भाव से बोला—

चूँडा—हाँ पितृदेव ! मैं आपके चरणों को स्पर्श कर और भगवान् एकलिंग की शपथ खाकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि मेरी इस सौतेली माता के पुत्र उत्पन्न होने पर मैं स्वयं उत्तराधिकार छोड़ दूँगा ।

राजकुमार चूँडा की यह भीष्म प्रतिज्ञा सुन राजसभा में उपस्थित सब लोग चकित और विस्मित हो गए । जो विचारवान् थे, वे राजकुमार को अपने संकल्प पर इस प्रकार अटल अचल देख मुक्त कंठ से उसकी सराहना करने लगे । "धन्य राजकुमार", "धन्य राजकुमार" के उच्च निनाद से सभाभवन प्रतिध्वनित होने लगा ।

मारवाड़ाधीश की सम्मान-रक्षा के लिये पचास वर्ष के महाराणा लाखा ने उनकी बारह वर्ष की बेटी के साथ विवाह किया और दैवी गति से विवाह होने के पीछे मारवाड़ाधीश की बेटी के गर्भ से महाराणा के एक पुत्र हुआ, जिसका नाम मोकलजी पड़ा ।

जिस समय मोकलजी पाँच वर्ष के थे, उसी समय गया धाम में मुसलमानों का अत्याचार सुनकर महाराणा लाखा को गया धाम की यात्रा करनी पड़ी । चित्तौर से बिदा होने के पीछे राज्य में किसी प्रकार का बखेड़ा न उठ खड़ा हो, गया जाने के पूर्व महाराणा ने इसका प्रबंध करना परम आवश्यक समझा । उस समय चूँडा से महाराणा ने इस बात की चर्चा तक न की कि उत्तराधिकारी कौन होगा । केवल इतना ही कहा—

लाखा—चूँडा, मैं जिस कठोर व्रत को पूरा करने के लिये जाता हूँ, इसमें ऐसी आशा नहीं है कि फिर उद्यापन करके भी देश में लौट आऊँ। यदि मैं न लौट सकूँ तो मोकलजी की उपजीविका का क्या प्रबंध होगा?

इसके उत्तर में चूँडा ने धीर गंभीर भाव से खड़े होकर कहा—

चूँडा—चित्तौर का राजसिंहासन।

चूँडा ने विचारा कि पिता को, संभव है, मेरे इस उत्तर से संतोष न हो, अतः उसने महाराणा की गया-यात्रा के पूर्व ही मोकलजी का राज्याभिषेक करा दिया। पाँच वर्ष के बालक को राजसिंहासन पर बैठाकर चूँडा ने सब से पहले बालक महाराणा के प्रति राजोचित सम्मान प्रदर्शित किया; और उनके अनुगत और विश्वस्त रहने की शपथ-पूर्वक प्रतिज्ञा की। इस अद्भुत स्वार्थत्याग के बदले मंत्रिभवन में चूँडा को सर्वोच्च आसन प्रदान किया गया। उसी दिन से यह नियम भी बना दिया गया कि प्रत्येक भूमि-दान-पत्र पर महाराणा के स्वाक्षरों के ऊपर चूँडा के खड्ग का चिह्न अंकित किया जाय।

पिता की गया-यात्रा और परलोक-यात्रा के बाद चूँडा, मोकलजी के नाम पर, सारा राजकाज देखने भालने लगे। परंतु स्त्रियों की जैसी ओछी और प्रलयंकरी बुद्धि प्रायः देखी सुनी जाती है, उसके अनुसार मोकलजी की माता के चित्त में चूँडा की ओर से संदेह उत्पन्न हो गया था और वे चूँडा के

प्रबंध से अप्रसन्न थीं। अप्रसन्न थीं और अप्रसन्न ही बनी रहतीं तो भी कुछ हानि न थी, किंतु एक दिन मोकलजी की माता ने निर्दोष चूँडा पर दोष लगाकर कहा—

राजमाता—मैं देखती हूँ, राजकाज चलाने के बहाने चूँडा स्वयं ही राणा बने जाते हैं। यद्यपि प्रकाश्य रूप से वे अपने को राणा नहीं बतलाते, तथापि वे दूसरे को यह उपाधि नाम मात्र के लिये देना चाहते हैं।

राजमाता की यह बात चूँडा के भी कान में पहुँची। एक निर्दोष के ऊपर दोष लगने पर जो दशा उस निर्दोष के मन की हो सकती है, उसका अनुमान भुक्तभोगी को छोड़कर दूसरा कोई नहीं कर सकता। चूँडा को यह स्वप्न में भी विश्वास न था कि मुझे अपनी इस निष्कपट राजसेवा का यह पुरस्कार मिलेगा। उनको यह स्वप्न में भी आशा न थी कि हितैषी मनुष्य की सरलता, उदारता और स्वार्थत्याग-युक्त व्यवहार भी कुटिल कपटता में गिना जा सकता है।

राजमाता की उक्त उक्ति को सुनकर चूँडा के हृदय पर बड़ा घाव हो गया। वे समझ गए कि वह समय आ गया है जब "होम करते हाथ जलते हैं"। अंत में उन्होंने प्रकाश्य रूप से राजमाता से कहा—

चूँडा—राजमाता! आपकी समझ का फेर है। यदि मैं चित्तौर के राजसिंहासन पर ही बैठना चाहता तो आज कौन आपको राजमाता कहकर पुकारता? अच्छा,

इसमें मेरी कुछ भी चति नहीं। मुझे केवल यही पश्चात्ताप है कि अब चित्तौर छूटता है। चित्तौर के भाग्य में गाढ़ी स्याही से भीषण भविष्य लिखा है। उसी का विचार आने से मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जाता है। अच्छा, मैं जाता हूँ। राज्य का सारा बोझ आप ही सँभालिए। आज से आप ही के ऊपर राज्य का समस्त प्रबंध, प्रजा का सुख दुःख निर्भर है। देखिए, सीसोदिया कुल के गौरव में कलंक न लगने पावे।

यह कहकर सत्यप्रतिज्ञ चूँडा चित्तौर को प्रणाम कर मान्दू राज्य की ओर चल दिए। वहाँ पहुँचने पर वहाँ के राजा ने चूँडा का अच्छे प्रकार सत्कार किया और हल्लर नामक राजस्थान शीघ्र ही उन्हें भूमि-वृत्ति में दे डाला।

उधर कृतघ्न राजमाता चूँडा के चले आने से दुःखी होने के बदले सुखी हुई। चूँडा के चित्तौर परित्याग करने पर राजमाता के अतिरिक्त उसके पितरालय के लोग बहुत प्रसन्न हुए; क्योंकि चूँडा के रहते तो उनकी दाल गल नहीं सकती थी। अब सूना मैदान देख वे सब चित्तौर जैसे प्रसिद्ध राज्य पर आधिपत्य जमाने को लालायित हुए। सबसे पहले राजमाता के भाई जोधा* ने मारवाड़ की मरुभूमि को त्यागकर मेवाड़ की शीतल छाया में आकर आनंद भोगा। कुछ दिनों बाद जोधा के पिता रिणमल भी अपने असंख्य अनुचरों सहित

---

* जोधपुर इन्हीं का बसाया हुआ है।

चित्तौर में जा घुसे। ज्वार की रोटियाँ खाते खाते मारवाड़ में जिनके कंठ शुष्क हो गए थे, वे आज मेवाड़ में गेहूँ की कोमल रोटियाँ खाकर बालक राणा मोकल की जयजयकार मनाने लगे।

मनुष्य स्वर्ग, पाताल, रसातल आदि दुर्गम स्थानों का भले ही पता लगा ले, पर क्रूर-नीति-परायण कुटिल जनों के मन की बात जान लेना सहज काम नहीं है। मरुदेशवासी अपने राज्य को छोड़ आज क्यों मेवाड़ राज्य में घुसे हैं, इस प्रश्न का उत्तर अभी सहसा क्योंकर दिया जा सकता है। अच्छा, पाठको हमारे साथ आगे बढ़े चलो। हम लोग इनके कार्य्यों से स्वयं ही इनके हृदयस्थ भावों को बहुत शीघ्र जान लेंगे।

राजा रिणमल अपने बालक धेवते मोकल को गोद में लेकर बाप्पा रावल के सिंहासन पर बैठे। राणा के छत्र चमर उनके ऊपर शोभायमान हुए। जिस समय मोकल खेलने जाता, उस समय रिणमल अकेले ही उस सिंहासन पर बैठे रहते थे। उस समय भी वे सारे राजचिह्न उनके मस्तक के ऊपर शोभायमान रहते थे। चित्तौर के सब सरदार इन बातों को देखकर भी नहीं देखते थे। केवल एक स्त्री थी, जिसके मन में रिणमल के इन व्यवहारों से खटका उत्पन्न हुआ था। यह शिशोदिया कुल की एक बूढ़ी धात्री थी। इसी के हाथ में राजकुमार की रक्षा का भार था। धात्री मन ही मन सोचा करती कि

वीरवर बाप्पा रावल का राजसिंहासन क्या राठौरों के हस्तगत हो जायगा ? क्या दुर्जन के विश्वासघात से सिसोदिया कुल अनंत काल के लिये पातालगामी होगा ?

एक दिन इस बूढ़ी धात्री ने दारुण दुःख, घृणा और अभिमान से दुःखी होकर मोकल की माता से पूछा—

धात्री—राजमाताजी ! क्या तुमको कुछ भी दिखाई पड़ता है ? क्या तुम्हारी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा है ? क्या तुम्हें विश्वास है कि तुम्हारे मैके के लोग बालक मोकल को चित्तौर के राजसिंहासन पर बैठाए रहेंगे ?

इन वाक्यों को सुनकर राजमाता को चेत हुआ। अब वे समझीं कि हम लोग भेड़िए के पंजे में जा फँसी हैं। यह विपत्ति हमने न्योता देकर स्वयं ही बुलाई है। हमने अपने पैर को अपने आप ही काटा है; क्योंकि यदि राजकुमार चूँडा यहाँ रहते तो आज यह दिन हमें क्यों देखना पड़ता ? इस प्रकार अनेक प्रकार की चिंताओं में पड़, राजमाता अपने पिता के समीप गई और बड़े गर्व के साथ उपर्युक्त बातों का कारण जानना चाहा। उत्तर में अपने पिता के मुख से राजमाता ने जो बातें सुनीं, उनसे उनका हृदय दहल गया, सिर घूमने लगा। उन्हें विश्वास हो गया कि मेरे पिता, मेरे बेटे मोकल को मारकर राजसिंहासन पर बैठना चाहते हैं। इतने में राजमाता ने सुना कि रिणमल ने चूँडा के छोटे भाई रघुदेव को चुपके चुपके मरवा डाला है।

यह समाचार सुनते ही राजमाता को सोलहों आने विश्वास हो गया कि अब मोकल का बचना कठिन है। पर 'जब तक स्वाँसा तब तक आशा' के अनुसार राजमाता अपने पुत्र की रक्षा का उपाय सोचने लगीं। वे जिस ओर दृष्टि डालतीं, उधर ही उन्हें संकट ही संकट दिखाई पड़ते। जिधर आँख उठाकर वे देखतीं, उधर उन्हें अपने शत्रु ही शत्रु देख पड़ते थे; क्योंकि रिणमल ने बड़े बड़े राज्याधिकारों पर अपने गुट्ट के लोगों को नियुक्त कर दिया था।

जब रिणमल ने सबको अपनी मुट्ठी में कर रखा है, तब ऐसा कौन मूर्ख होगा जो अपनी जान गँवाकर राजमाता का साथ दे। धीरे धीरे राजमाता हताश होने लगीं; पर मन ही मन उन्हें चूँडा की याद आने लगी। चलते समय जो बातें चूँडा ने कही थीं, एक एक कर वे सब उन्हें स्मरण होने लगीं। स्मरण ही नहीं किंतु काँटे की तरह उनके हृदय को छेदने लगीं। अंत में राजमाता से न रहा गया और छुटकारे का अन्य उपाय न देख, उन्होंने सारा वृत्तांत चूँडा से कहला भेजा। यद्यपि महात्मा चूँडा चित्तौर से सुदूरवर्त्ती देश में रहते थे, तथापि उन्हें चित्तौर की रत्ती रत्ती खबर मिलती रहती थी। चित्तौर की दुर्व्यवस्था के समाचार सुनकर चूँडा ने निश्चय कर रखा था कि अंत में राजमाता को मेरी सहायता के लिये प्रार्थी बनना पड़ेगा। अतः वे पहले ही से तैयार हो गए थे।

अब सौतेली माता का पत्र पाकर चूँडा शीघ्र ही चित्तौर की ओर प्रस्थानित हुए। चित्तौर परित्याग करते समय चूँडा के साथ दो सौ अहेरिए भील, अपने परिवार को चित्तौर ही में रखकर, चले गए थे। उनको चूँडा ने अपने अपने परिवार के लोगों से मिलने के लिये चित्तौर भेज दिया था। ये भील चित्तौर पहुँचकर वहाँ के द्वारपाल की सेवा करते हुए अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। उधर चूँडा ने सौतेली माता को कहला भेजा—"चारों ओर के गाँवों में, दीनों को भोजन बाँटने के मिस, नित्य बहुत से विश्वासपात्र भृत्यों को भेजा करो और अवसर देखकर मोकल को साथ ले, उनके साथ तुम भी चली आया करो। धीरे धीरे तुम उन गाँवों में भी आया करो जो चित्तौर से दूर हैं। परंतु दिवाली के दिन गोमुंडा ग्राम में अवश्य पहुँच जाना। यदि उस दिन वहाँ तुम न आईं तो फिर सब किए धरे पर पानी फिर जायगा।"

महात्मा चूँडा के इस संदेशे को सुन राजमाता के जी में जी आया। उन्होंने चूँडा के संदेशे के अनुसार कार्य्यारंभ करने में एक पल का भी विलंब न किया। धीरे धीरे दिवाली भी आ पहुँची। पूर्व निश्चय के अनुसार राजमाता मोकल को लिए हुए गोमुंडा ग्राम में पहुँचीं। राजमाता ने दिन भर तो ग्राम-निवासियों को उत्तमोत्तम भोजन कराए और स्वयं रात होने की प्रतीक्षा करने लगीं। संध्या हुई, संध्या के अनंतर रात का अंधकार भी चारों ओर छा गया; तब भी जब चूँडा न

आए, तब राजमाता और उनके साथी संगी निराश हो चित्तौर की ओर लौट पड़े। पर वे सब चित्तौरी नामक कोट-भीत के समीप पहुँचे ही थे कि पीछे घोड़ों की टापों के शब्द सुनाई पड़े। घोड़ों की टापों के शब्द सुनते ही राजमाता के जी में जी आया। बात की बात में चालीस सवार अति शीघ्रता से घोड़ों को बढ़ाते हुए उनके आगे से निकल गए। इन सवारों के दल में सब से आगे भेष बदले हुए चूँडा थे। मोकल के सामने आते ही संकेत ही से उन्होंने सम्मान प्रदर्शित किया और फिर आगे बढ़कर वे चित्तौर के सिंहद्वार पर जा पहुँचे। अब तक किसी ने भी चूँडा के मार्ग में बाधा नहीं डाली थी। पर ज्योंही ये लोग सिंहद्वार लाँघकर रामपोल फाटक पर पहुँचे, त्योंही वहाँ के पहरेदारों ने इनके सामने जाकर पूछा—"आप लोग कौन हैं?" कुमार चूँडा ने उत्तर में कहा—"हम सब राजपूत सरदार हैं। चित्तौर के आसपास के गाँवों में रहते हैं। राजकुमार के साथ गोमुंडा गए थे। उन्हें पहुँचाने आए हैं।" इस सीधे सादे और समयोचित उत्तर को सुन चूँडा पर किसी को कुछ भी संदेह न हुआ। चूँडा बे रोक टोक दुर्ग में जा पहुँचे। पर जब चूँडा के अन्य साथी जो पीछे थे, भीतर घुसने लगे, तब तो पहरुओं को संदेह हुआ और वे म्यानों से तलवारें निकाल चूँडा के सामने हुए। अब क्या था। चूँडा ने भी तलवार खींचकर शत्रुदल का संहार करना आरंभ किया। इतने में चूँडा की बोली पहचान उनके

अनुचर भील, जो पहले ही से नगर में आ डटे थे, शस्त्र लेकर चूँडा के काम में सम्मिलित हो गए। चूँडा ने सबसे पहला काम यह किया कि वहाँ के किलेदार भाट सरदार को पकड़कर बाँध लिया; पर बाँधे जाने के पहले इसने चूँडा के ऊपर दूर ही से फेंककर तलवार मारी जिससे चूँडा घायल हुए। पर उस समय चूँडा ने उस घाव की कुछ भी परवाह न की। राठौरों को पकड़ पकड़कर मारना ही उस समय उनका मुख्य उद्देश्य था। सो उनके सहचर खोज खोजकर राठौरों को पकड़ लाते और उनके टुकड़े टुकड़े कर देते थे।

अब हम इन राठौरों के मुखिया रिणमल की मृत्यु का भी संक्षिप्त वर्णन लिखते हैं। जिस दिन की यह घटना है, उस दिन इस दुष्ट ने अपनी लड़की की किसी अति रूपवती दासी पर मोहित हो उसके साथ बलपूर्वक दुष्कर्म किया। उस समय उसे यह विदित न था कि बाहर क्या हो रहा है। धूर्त बुड्ढा मदिरा और अफीम के नशे में चूर उस दासी के गले में गलबाँही डाले मजे में पलँग पर पड़ा था। वह स्त्री दासी थी तो क्या, पर उसे अपने सतीत्व के नष्ट होने का बड़ा ही क्षोभ था और वह इस पापाचारी से इसका बदला लेने का अवसर खोज रही थी। वह अवसर इस समय अपने आप आ गया। उस दासी ने रिणमल की पगड़ी से उन्हें उसी पलँग पर जकड़कर बाँध दिया। वह बुड्ढा इतना अचेत था कि बाँधे जाने के समय भी वह न जागा। उस

पापी को उसी की पगड़ी और उसी के पलँग से बाँधकर वह दासी वहाँ से चली गई। इस घटना के कुछ ही देर बाद चूँडा के सैनिक रिणमल के कमरे में जा पहुँचे। तब भी वह पाखंडी ज्यों का त्यों पड़ा खुर्राटे लेता रहा। परंतु ज्योंही चूँडा के सैनिकों का सिंहनाद उसने सुना, त्योंही उसकी कुंभकर्णी निद्रा भंग हुई। आँख खुलते ही उसने देखा कि रणोन्मत्त वैरियों से उसका कमरा भरा हुआ है। उसने फुर्त्ती के साथ उठना चाहा, पर वह तो बँधा हुआ था; अतः वह मै पलँग के उठ खड़ा हुआ। उस समय उसके पास कोई हथियार भी न था। पास में शराब पीने का पीतल का एक गिलास रखा था। उसी से उसने कई सैनिकों को घायल किया। पर एक सैनिक की गोली के आघात से वह तुरंत ही यमलोक सिधारा।

उस समय राजा रिणमल का जोधा नामक पुत्र नगर के दक्षिण भाग में था। अपने पिता और इष्टमित्रों की दुर्गति का समाचार सुन, वह घोड़े पर सवार हो अपने प्राण लेकर वहाँ से भागा। इस प्रकार विश्वासघातक राठौरों के चंगुल से चूँडा ने शिशोदियों के गौरव की रक्षा की।

उदयसिंह

जिनका बसाया उदयपुर आज राजपूताने के प्रसिद्ध नगरों में गिना जाता है, उन महाराणा उदयसिंह का जीवनवृत्तांत बड़ा ही रोचक है। अतः संक्षेप रूप से उसे हम नीचे लिखते हैं।

जब गुजरात के बादशाह बहादुर ने चित्तौर पर आक्रमण किया और महारानी कर्णवती तेरह हजार राजपूत बालाओं के साथ अनल में समा गईं तथा बत्तीस हजार राजपूत वीर इस युद्ध में मारे जा चुके, तब हुमायूँ ने आकर बहादुर को चित्तौर से निकाला। फिर वहाँ के शून्य सिंहासन पर विक्रमाजीत को बैठाकर हुमायूँ अपनी राजधानी को लौट गया।

क्रूरस्वभाव विक्रमाजीत इसलिये गद्दी पर बैठाया गया था कि इस गद्दी के असली अधिकारी बालक उदयसिंह को उनके अभिभावकों ने, बहादुर के साथ युद्ध छिड़ने पर, बूँदी भेज दिया था।

यह विक्रमाजीत बड़ा लंपट, क्रूरस्वभाव और अत्याचारी था। गद्दी पर बैठकर धीरे धीरे फिर यह अपने सरदारों पर अत्याचार करने लगा। जिस करमसिंह ने विपत्ति के समय इसके पिता को सहायता दी थी और जो करमसिंह वृद्धावस्था को प्राप्त होकर मृत्यु की घड़ियाँ गिन रहा था, उसी करमसिंह परमार को इस दुष्ट ने भरी सभा में अपमानित किया। उसका

यह अन्याय देखकर राजसभा में उपस्थित समस्त सरदार उठ खड़े हुए। सामंतशिरोमणि चूँडावत वीर कर्णजी से न रहा गया और उन्होंने क्रोध में भर कहा—"भाइयो ! अब तक तो हम फूल की महक ही सूँघते थे; पर इस समय उसके फल भी चखेंगे।" यह सुनकर अपमानित करमसिंह ने रोष में भरकर कहा—"कल ही इस फल का स्वाद मालूम हो जायगा।" इस कहा-सुनी के बाद ही सारे सरदार दरबार छोड़कर चल दिए।

हिंदूमात्र के निकट राजा उनका आराध्य देव है, पर तभी तक जब तक वह प्रजा का पुत्रवत् पालन करे—अपने आश्रितों के सुख दुःख को अपना सुख दुःख समझे। किंतु जो राजा दुराचारी हो अथवा जिसके शासन से प्रजा उत्पीड़ित हो, वह राजा कभी देवोपम नहीं समझा जा सकता। ऐसे राजा को, सर्वसाधारण के मंगल के लिये, प्रजा के मान्य नेता सिंहासनच्युत कर देते हैं। यही दशा विक्रम की हुई।

क्रुद्ध सरदार लोग राजसभा छोड़कर वीरवर पृथिवीराज की उपपत्नी के गर्भ से उत्पन्न वनवीर के पास गए और उसे चित्तौर के सिंहासन पर बैठाना चाहा। पहले तो वनवीर ने उनका प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया; पर जब उससे मेवाड़ की भावी दुर्दशा की बात कही गई, तब वह राजसिंहासन पर बैठने के लिये राजी हो गया। हतभाग्य विक्रम को सिंहासन से उतारकर वनवीर की उस पर प्रतिष्ठा की गई।

वनवीर को सिंहासन पर बैठे कुछ ही घंटे बीते थे कि उसके मन का भाव बदल गया। उसने अपने मन में निश्चित कर लिया कि मेरी उन्नति के मार्ग में जो जो कंटक हैं, उन सब को मैं दूर कर दूँगा। उसका प्रथम और मुख्य कंटक तो छः वर्ष का बालक उदयसिंह था। इस कंटक को दूर करने के लिये वह दुष्ट रात्रि की प्रतीक्षा करने लगा। धीरे धीरे रात हो आई। कुमार उदयसिंह ब्यालू करके शयनागार में गए। उनकी धाय उनके पलँग के पास बैठकर उनकी शुश्रूषा करने लगी। इतने में रनवास में हाहाकार का शब्द सुन पड़ा। यह हाहाकार सुनकर उदयसिंह की धाय पन्ना विस्मित हुई। वह उस कोलाहल का कारण जानने को उठना ही चाहती थी कि इतने में जूठन उठाने को वहाँ बारी पहुँचा। उसने भय-विह्वल भाव से कहा—"बहुत बुरा हुआ—विक्रमाजीत वनवीर द्वारा मार डाला गया।" यह सुनते ही सुचतुरा पन्ना समझ गई कि वनवीर के क्रूर उद्देश्य की इतिश्री यहीं तक न होगी, वह बालक उदय के प्राण भी लेने आवेगा। इस दैवी स्फूर्ति के उदय होते ही तत्क्षण पन्ना ने उदय की प्राण-रक्षा का उपाय सोच निकाला। वहाँ फलादि रखने का एक बड़ा टोकरा रखा था। पन्ना ने उसी टोकरे में राजकुमार उदय को साव-धानी से सुला दिया। फिर उसे पत्तों से ढककर पन्ना ने उस बारी से कहा—अभी इस टोकरे को लेकर गढ़ से बाहर निकल जाओ।

विश्वासी बारी उसी समय वह टोकरा लेकर दुर्ग के बाहर हुआ। तब धाई पन्ना अपने लड़के को राजकुमार के पलँग पर सुलाकर वहाँ से चली ही थी कि रक्त से सनी तलवार हाथ में लिए वनवीर वहाँ जा पहुँचा और उदय को खोजने लगा। मारे डर के पन्ना का कंठ सूख गया। उसने काँपते हुए चुपचाप वनवीर को राजकुमार की शय्या दिखला दी। निठुर वनवीर ने पन्ना के पुत्र के हृदय में छुरी भोंक ही तो दी। छुरी के आघात से बालक एक बार चिल्लाया और कुछ देर छटपटाकर वहाँ का वहीं मर गया। पन्ना का हृदय-स्वरूप बालक मारा गया, पर उसने एक बार भी बालक के लिये हाँ हूँ न की। उसने चुपके से अपने पुत्र की अंत्येष्टि क्रिया पूरी की और वह तुरंत दुर्ग से निकल भागी। रनवास की रानियों को इस घटना का बिंदु विसर्ग भी विदित न था। उन्होंने यही समझा कि वनवीर ने बालक उदयसिंह को मार डाला। अतः वे विलाप करने लगीं।

उधर देवी पन्ना अश्रुजल से अपने गर्भजात बालक की चिता को बुझाकर, उस बारी की खोज में, दुर्ग के बाहर निकली। राजकुमार को लिए हुए वह बारी चित्तौर के पश्चिम में बहनेवाली बेरिस नदी के तट पर बैठा था। यह बड़ी कुशल हुई कि चित्तौर के भीतर उदयसिंह की आँख नहीं खुली। इतने में पन्ना भी वहाँ जा पहुँची और उदयसिंह को लिए हुए वह बाघजी के पुत्र सिंहराव के पास गई और राजकुमार की रक्षा

के लिये प्रार्थना की। वनवीर के डर के मारे उसने पन्ना की प्रार्थना अस्वीकृत की और कहा—"मेरी बहुत इच्छा है कि मैं राजकुमार की रक्षा करूँ। पर यदि कहीं वनवीर को यह बात विदित हो गई तो वह मुझे सवंश मार डालेगा; और मुझमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि मैं उसका सामना कर सकूँ।" तब पन्ना और एक सरदार के पास गई, पर उसने भी उसकी बात न मानी। अंत में भीलों की सहायता से पहाड़ी विकट मार्गों में होकर वह कमलमेर के दुर्ग में पहुँची। यहाँ पर पन्ना की बुद्धिमानी से कार्य सिद्ध हो गया।

वहाँ पर आसा शाह नामक एक जैनी अधिकारी था। उससे मिलकर पन्ना ने राजकुमार को उसकी गोद में रखकर कहा—"अपने राजा के प्राण बचाइए।"

परंतु इस डरपोक ने भी डरकर राजकुमार को गोद से उतारना चाहा। पर उस समय आसा की माता भी वहीं थी। उसने अपने पुत्र की इस भीरुता को देख उसे फटकारा और कहा—"जो स्वामी के हितैषी होते हैं, वे अपने स्वामी के हित के लिये विघ्न बाधाओं से नहीं डरते। राणा संग्रामसिंह का पुत्र विपत्ति में पड़कर आज तुम्हारा आश्रय चाहता है। इसे आश्रय देने से भगवान् तुम पर प्रसन्न होंगे और तुम्हारे गौरव की वृद्धि करेंगे।"

माता की इस नीति-युक्त शिक्षा से आसा शाह को चेत हुआ और उसके समस्त संदेह दूर हो गए। उसने राजकुमार

को अपना भतीजा कहकर प्रसिद्ध किया और बड़े यत्न के साथ वह राजकुमार का लालन-पालन करने लगा। इस प्रकार दैवी अनुकूलता से पन्ना की मनोकामना पूर्ण हुई। धाई पन्ना के कारण कहीं राजकुमार को कोई पहचान न ले, अतः पन्ना कमलमेर से चल दी।

राणा संग्रामसिंह का पुत्र उदयसिंह इस प्रकार छिपकर अपना समय बिताने लगा। यद्यपि आसा शाह ने उसे अपना भतीजा प्रसिद्ध कर रखा था; तो भी लोगों को उसके विषय में अनेक प्रकार के संदेह उठ खड़े हुए।

इतने में आसा शाह के पिता का श्राद्ध-दिवस निकट आया। इस अवसर पर दूर दूर से अनेक राजपूत आकर कमलमेर में एकत्र हुए। सब तैयारियाँ हो चुकने पर वे सब भोजन करने को बैठे। अनेक प्रकार के भोजन परोसे गए। इतने में बालक उदयसिंह ने परोसनेवाले के हाथ से दही का बर्तन छीन लिया। राजकुमार का यह अयौक्तिक व्यवहार देख सब लोग विस्मित हुए। लोगों ने उदयसिंह को बहुत सम-झाया, पर दृढ़प्रतिज्ञ उदय ने दही का बर्तन नहीं दिया। सात वर्ष के बालक का ऐसा तेज देख सब उपस्थित राजपूत चकित रह गए।

सात वर्ष का बालक उदयसिंह छिपाया तो गया, पर सत्य बहुत दिनों तक नहीं छिप सकता। राजकुमार की बात आप ही आप फैलने लगी। इतने में जालोर के सोनगरे सरदार किसी

कार्यवश आसा शाह के पास गए। आसा शाह ने उनके आगत-स्वागत का कार्य उदयसिंह को सौंपा। राजकुमार ने ऐसी उत्तमता से इस कार्य को संपादन किया कि सोनगरे सरदार को निश्चय हो गया कि उदय कभी आसा शाह का भतीजा नहीं है। धीरे धीरे यह संवाद चारों ओर फैल गया। फल यह हुआ कि मेवाड़ के सामंत और सरदार भी उदय को प्रणाम करने के लिये आने लगे।

पर इन लोगों को पूर्ण रीति से विश्वास न हुआ। तब पन्ना और बारी ने सारा वृत्तांत कहकर सब का रहा सहा संदेह भी दूर कर दिया।

तदनंतर उसी दिन कमलमेर के सभाभवन में एक बड़ा राजदरबार हुआ। उस दरबार में आसा शाह ने राजकुमार का सारा वृत्तांत कहकर उसे मेवाड़ के वृद्ध चौहान सामंत के हाथ में सौंप दिया। उन सरदारों को राजकुमार का छिपा हुआ सारा वृत्तांत अवगत था; अतः उन्हें राजकुमार पर तिल भी संदेह न था। राजकुमार आसा शाह के यहाँ रहे थे; संभव था इससे लोगों को उन पर संदेह उठ खड़ा होता। इस संदेह को मिटाने के लिये उस वृद्ध चौहान सामंत ने राजकुमार के साथ एक पत्तल में खाया। तब तो संग्रामसिंह के पुत्र को पाकर सब सरदार बहुत प्रसन्न हुए। धीरे धीरे यह संवाद चित्तौर में भी पहुँचा। उसे सुनते ही दुष्ट वनवीर का हृदय दहल गया।

सोनगरे सरदार अखिलराव ने अपनी कन्या का विवाह उदयसिंह के साथ करना चाहा। राजकुमार ने पहले तो यह संबंध अस्वीकृत किया; क्योंकि मालदेव ने जिस दिन राणा हम्मीर के साथ अपनी विधवा कन्या धोखा देकर व्याह दी थी, उसी दिन से राणा हम्मीर ने यह नियम कर दिया था कि आगे कोई गहलोत सोनगरे चौहानों से विवाह न करें। इतने दिनों तक उनका यह नियम चला भी आया था। पर आज इस नियम को तोड़कर उदयसिंह ने उक्त सरदार की कन्या के साथ विवाह करना स्वीकृत किया। जब विवाह का दिन निश्चित हो गया, तब उदयसिंह ने महाराणा कुंभाजी के बड़े दुर्ग में, मेवाड़ के बड़े बड़े सरदारों और सामंतों से सम्मानित होकर चित्तौर के राजसिंहासन पर अपना अभिषेक कराया।

यह समाचार वनवीर के कानों तक भी पहुँचा। सुनते ही वह हताश हो गया। उसे इस समाचार की सत्यता पर विश्वास ही न हुआ; क्योंकि वह तो अपने हाथ से राजकुमार की हत्या कर उसे तड़पते देख चुका था। उसे विश्वास हो गया था कि अब मेरे मार्ग के सब कंटक दूर हो गए और मैं अब चित्तौर के राजसिंहान पर अटल अचल रूप से बैठ चुका। इसी विश्वास के बल पर वह दुष्ट अपने दरबारियों पर अत्याचार भी करने लगा था।

इन्हीं कारणों से ये सब सरदार वनवीर से अप्रसन्न हो गए थे। सो ये सब सरदार उदयसिंह का अभिषेक करने के अभि-

प्राय से कमलमेर की ओर चले। जब ये लोग अरावली की घाटी में पहुँचे, तब इन्होंने देखा कि ५०० घोड़े और बहुमूल्य सामग्री से लदे दस हज़ार बैल चले आ रहे हैं। इनकी रक्षा के लिये एक हज़ार राजपूत उनके साथ हैं। गुप्त भाव से पूछताछ करने पर उनको विदित हुआ कि वह सारी सामग्री वनवीर की बेटी के दहेज के लिये कच्छ देश की ओर से आ रही है। यह सुनकर सरदारों के आनंद की सीमा न रही। वे तत्काल उनके ऊपर टूट पड़े। वे सब रक्षक मारे गए। उन सामंतों ने उस सारी सामग्री को ले जाकर उदयसिंह के सामने उपस्थित किया। यह सामग्री उदयसिंह के विवाह के काम में आई।

यह विवाह जालौर के अंतर्गत एक ग्राम में हुआ था। विवाहोत्सव में दो को छोड़ सभी सरदार आए। उनके इस अपमान का बदला लेने के अभिप्राय से सरदारों ने उन पर चढ़ाई की। तब इन दोनों ने वनवीर का आश्रय ग्रहण किया। वनवीर ससैन्य इनकी रक्षा के लिये गया, पर वह कर कुछ भी न सका। एक सरदार तो युद्ध ही में मारा गया। दूसरे ने रक्षा का अन्य उपाय न देख उदयसिंह की वश्यता स्वीकृत कर ली।

इस प्रकार वनवीर का बल धीरे धीरे कम होता गया। उसके भाग्याकाश में घनघोर काली घटाएँ उमड़ आईं। तो भी उसकी जीवनप्रदायिनी आशा भग्न न हुई। उदयसिंह की सारी तैयारियों को निष्फल करने के अभिप्राय से, वनवीर अचल भाव

से राजधानी में अवस्थित हो अपने वैरी के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा। पर जो अपने कुकृत्यों से सब को अपना शत्रु बना चुका है, जिसके चारों ओर शत्रु हैं, जो शत्रु-पुरी में वास कर रहा है, विपत्ति के समय उसका साथ कौन देगा। वनवीर का जो मंत्री था, उसी ने उसे धोखा देकर, नई सेना एकत्र करने के बहाने, उदयसिंह की सेना के एक हज़ार वीर सैनिकों को घुसा लिया। दुर्ग में पहुँचते ही इन सैनिकों ने सब से पहले तो द्वाररक्षकों पर आक्रमण कर उन्हें वहीं समाप्त किया। फिर दुर्ग के शिखर पर उदयसिंह की विजय-वैजयंती गाड़ दी। उस फहराती हुई विजय-पताका को देख नगरवासी तथा उदय-सिंह के दूत सिंहनाद कर "उदयसिंह की जय" पुकारने लगे। परंतु किसी ने भी वनवीर पर किसी प्रकार का अत्याचार न किया। वह चुपचाप वहाँ से अपना परिवार तथा सम्पत्ति लेकर दक्षिण देश में जा बसा। उसी की संतति के लोग नागपुर के भोंसले कहलाए।

राजकुमार उदयसिंह चित्तौर के राजसिंहासन पर बैठाए गए। पर शिशोदिया-वंश में उत्पन्न होने पर भी उदयसिंह में उस कुलवालों जैसी वीरता न थी। उनकी इस अयोग्यता के कारण मेवाड़ का जातीय जीवन नष्ट भ्रष्ट हो गया। जो मेवाड़ अभी तक अजेय समझा जाता था, उसका वह गौरव इनके शासन-काल में विलीन हो गया। उदयसिंह रात दिन आलस्य और विलास की आराधना में बने रहते थे। जब अकबर ने इन पर

चढ़ाई की, तब यह भागकर राजपिप्पली नामक गंभीर वन में चले गए। यह स्थान अरावली की शैलमाला के भीतर है। यहाँ पर अनेक नदियाँ मंद गति से प्रवाहित होती हैं। उदयसिंह ने इन्हीं में से एक नदी के प्रवाह को रोककर एक बड़ा बाँध बाँधा और उसके ऊपरवाले गिरिव्रज के शिखर पर नवचौकी नामक एक छोटा महल बनवाया। इस महल के चारों ओर बड़ी बड़ी अट्टालिकाओं और विशाल भवनों की रचना की गई। धीरे धीरे यहाँ एक नगर बस गया। इस नगर का नाम उदयसिंह ने अपने नाम पर उदयपुर रखा। तब से यह नगर मेवाड़ की राजधानी बना।

प्रतापसिंह

चित्तौर-ध्वंस के चार वर्ष बाद उदयसिंह, ४२ वर्ष की अवस्था में, परलोकगामी हुए। वे मरते समय पच्चीस पुत्र छोड़ गए थे। उदयसिंह अपने सब से छोटे पुत्र जगमल को सब से अधिक चाहते थे और जीवित अवस्था में उसे ही अपना उत्तराधिकारी भी बना गए थे। अतः जगमल ही उदयपुर की राजगद्दी पर अभिषिक्त किए गए।

फागुन की पूर्णिमा को जगमल के भाई उधर तो पिता की अंत्येष्टि-क्रिया करने को श्मशान पर गए और इधर जगमल राजगद्दी पर बैठे। पर विधाता ने तो यह सुख जगमल के भाग्य में लिखा ही न था। क्योंकि जिस समय बंदीजनों ने जगमल के सिंहासन पर बैठने की घोषणा की, ठीक उसी समय श्मशान में उदयसिंह के मृत शरीर के चारों ओर बैठकर, मेवाड़ के सरदार एक गुप्त परामर्श कर रहे थे। इस गुप्त परामर्श का परिणाम शीघ्र ही पाठकों को विदित हो जायगा।

पाठक भूले न होंगे कि उदयसिंह ने सोनगरे सरदार की कन्या के साथ विवाह किया था। उसी राजकुमारी के गर्भ से जगद्विख्यात वीरशिरोमणि प्रताप का जन्म हुआ था। प्रताप के मामा जालोर के राव अपने भांजे को मेवाड़ के राजसिंहासन पर बैठाने के लिये व्यग्र हुए। उन्होंने मेवाड़ के प्रधान सामंत

चूँडावत-शिरोमणि कृष्णजी से पूछा—"उपयुक्त उत्तराधिकारी होकर भी प्रताप राजगद्दी से वंचित रहा। आपने अपने जीते जी इस अविचार-युक्त कार्य्य में क्योंकर सम्मति दी?" इसके उत्तर में सामंतशेखर कृष्ण ने नम्रतापूर्वक कहा—"यदि रोगी अंत समय में थोड़ा सा दूध पीना चाहे, तो क्या वह उसे न दिया जाय?" धीरे धीरे कृष्ण का शब्द गंभीर होता गया और वे बोले—"रावजी! आपके भांजे ही को मैंने मेवाड़ के राजसिंहासन के लिये मनोनीत किया है। मैं तो प्रताप ही का साथ दूँगा।"

उधर तो जगमल भोजनागार में जाकर राणा के बैठने की ऊँची गद्दी पर बैठा, और इधर प्रतापसिंह मेवाड़ राज्य को त्यागने के लिये अपना घोड़ा कसने लगे। इतने में ग्वालियर के पदच्युत नरेश को साथ लिए हुए रावत कृष्ण उस जगह पहुँचे जहाँ जगमल बैठा हुआ था। वहाँ पहुँचकर दोनों ने जगमल की दोनों बाँहें पकड़ीं और ऊँची गद्दी से उठाकर उन्हें उस गद्दी के नीचेवाली गद्दी पर बैठा दिया। जगमल को गद्दी से उतारते समय रावत कृष्णजी ने गंभीर वाणी से कहा था—"महाराज! आपको भ्रम हुआ है, क्योंकि इस ऊँची गद्दी पर बैठने का अधिकार केवल प्रतापसिंह को है।" इसके बाद राजवेश धारण कराकर और देवी की दी हुई तलवार देकर प्रतापसिंह उस गद्दी पर बैठा दिए गए। सलूंबर के राव ने तीन बार पृथिवी को छूकर, प्रताप को राणा कहकर संबोधित किया। उस समय जो अन्य सामंत वहाँ थे, उन्होंने सामंत

कृष्णजी का अनुकरण किया। इस विधि के पूरे होने पर महाराणा प्रताप ने सबको बुलाकर कहा—

महाराणा प्रताप—आहेरिया उत्सव आ पहुँचा। अतः सब लोग घोड़ों पर सवार होकर चलें और शिकार खेलें; और भगवती गौरी को वराह की बलि देकर आगामी वर्ष का फलाफल जानें।

सब लोग घोड़ों पर सवार होकर शिकार खेलने गए। उस दिन शिकार में अगणित वराहों को मारा। उसी दिन के शकुन को देख मेवाड़वासियों को विश्वास हो गया था कि मेवाड़ का भाग्य अवश्य ही उदय होनेवाला है।

पाठक देखते आए हैं कि प्रताप के कतिपय पूर्व पुरुषों की करतूत से मेवाड़ का गौरव प्रायः नष्ट हो गया था। यहाँ तक कि उनकी इतिहास-प्रसिद्ध राजधानी चित्तौर भी उनके हाथ से निकल गई थी। अतः जिस समय प्रताप मेवाड़ के राज-सिंहासन पर बैठे, उस समय उनके पास जनबल, धनबल, साहाय्य-बल उनके पद के अनुसार पर्याप्त न था। निरंतर विपत्तियों के पड़ने से उनके सरदार निस्तेज हो गए थे, पर निर्भय प्रताप इससे तिल भर भी विचलित न हुए। कारण यह था कि वे वंदीजनों के मुख से अपने पूर्व पुरुषों की कीर्ति सुन चुके थे और उन्हें अपने पूर्व पुरुषों की वीरता का पूरा वृत्तांत अवगत हो गया था; अतः उन्होंने पर्याप्त बल न होने पर भी अकबर के सामने सिर न झुकाने की भीष्म प्रतिज्ञा की। वह प्रतिज्ञा ऐसी

वैसी न थी। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी—"मैं अपनी माता के पवित्र दुग्ध को कभी कलंकित न करूँगा।"

अकबर के पास बड़ी भारी सेना थी और प्रताप की सेना बहुत थोड़ी थी। अतः थोड़ी सेना को लेकर बड़ी सेनावाले के साथ किस प्रकार युद्ध करना उचित है, यह परामर्श करने के लिये प्रताप ने अपने बुद्धिमान् सरदारों को आमंत्रित किया। बहुत वाद-विवाद के बाद उपाय निश्चित किया गया और उस निश्चय के अनुसार कार्य्य भी आरंभ कर दिया गया। प्रताप ने आवश्यकता के अनुसार अपना प्रधान वासस्थान कमलमेर में नियत किया। साथ ही साथ कमलमेर, गोगुंडा तथा अन्य पहाड़ी दुर्गों का भी जीर्णोद्धार कर लिया। थोड़ी सेना लेकर अकबर जैसे बहु-जन-बल-शाली शत्रु का समतल भूमि पर सामना करना उन्होंने अनुचित समझा। अतः महाराणा ने अपने पूर्व पुरुषों की नीति का अनुसरण कर सघन और दुर्गम पहाड़ी स्थानों में अपनी सेना के मोरचे स्थापित किए। फिर यह ढिंढोरा पिटवाया कि "जिस किसी को हमारी अधीनता में रहना हो, वह शीघ्र ही बस्ती को छोड़कर परिवार सहित पर्वतों में आश्रय ग्रहण करे। नहीं तो वह शत्रु समझा जायगा और प्राणदंड से दंडित किया जायगा।"

इस घोषणा के घोषित किए जाते ही मेवाड़ी प्रजा के दल के दल अरावली पर्वत की पहाड़ियों पर जा बसे। थोड़े ही दिनों के भीतर मेवाड़ के अधिकांश स्थान सूने हो गए।

इस प्रकार अपने आश्रितों को निरापद स्थानों में रखकर प्रताप और उनके सहचर सरदार अर्थागम के उपाय सोचने लगे। क्योंकि अकबर जैसे शक्तिशाली के साथ युद्ध छेड़कर, धन की भी तो आवश्यकता होगी, सो कहाँ से आवेगा ? अतः प्रताप के सरदारों ने धनोपार्जन का एक नया मार्ग ढूँढ़ निकाला। उस समय युरोपवालों के साथ मुगलों का व्यापार अच्छे ढंग से चलता था। सौदागरी माल मेवाड़ में होकर समुद्रतट पर बसे हुए सूरत आदि नगरों को जाता था। प्रताप के सरदार अवसर पाने पर उस समग्र सामग्री को लूट लिया करते थे।

अकबर और प्रताप में परस्पर विद्वेषाग्नि भड़क उठी। बड़ा ही विषम जोड़ था। एक ओर तो बहु-जन-बल-संपन्न अकबर और दूसरी ओर अकेले प्रताप। राजपूताने के जो राजा लोग प्रताप का उत्कर्ष देख मन ही मन जलने लगे थे, वे भी इस बार अकबर के साथ मेवाड़-विध्वंस करने को जा मिले। दोनों ओर आग तो भीतर ही भीतर भड़क रही थी, पर वह अभी बाहर फूटकर नहीं निकली थी। किंतु अब एक ऐसा कारण उपस्थित हुआ जिससे दोनों ओर के वीरों को युद्धक्षेत्र में अवतीर्ण होना पड़ा।

अकबर रिश्ते में आमेर के राजा मानसिंह का बहनोई होता था; क्योंकि वे अपनी बहिन अकबर को ब्याहकर उसके कृपा-पात्र बने थे और राजपूत जाति पर उन्होंने कलंक लगाया था। मानसिंह साहसी, चतुर और समर-विशारद थे। अतः अक-

बर ने अपने साले मानसिंह को अपना सेनापति बना लिया था और इन्हीं के बाहुबल से अकबर ने भारत का आधा राज्य पाया था। अस्तु।

शोलापुर के युद्ध में जय प्राप्त कर मानसिंह राजधानी को लौटे आते थे। रास्ते में उन्होंने प्रताप के अतिथि बनने की इच्छा प्रकट की। उस समय प्रताप कमलमेर में थे। मानसिंह के आने का समाचार सुन, उनकी अगवानी के लिये वे उदयसागर तक गए। उदयसागर के तट पर मानसिंह के भोजनादि का प्रबंध किया गया। भोजन तैयार होने पर राजकुमार अमरसिंह ने मानसिंह को बुलाया। मानसिंह ने चौके में पहुँचकर प्रताप को देखना चाहा, पर महाराणा वहाँ न थे। अतः मानसिंह के मन में अनेक प्रकार के संदेह उठ खड़े हुए। अंत में उनसे न रहा गया। उन्होंने राजकुमार से प्रताप के न आने का कारण पूछा। उत्तर में अमर ने नम्रतापूर्वक कहा—"पिताजी के सिर में दर्द है, इससे वे स्वयं नहीं आ सके।" यह उत्तर सुनकर मानसिंह का संदेह और भी जड़ पकड़ गया। अंत में उन्होंने अभिमान के साथ गंभीर होकर कहा—"राणाजी से जाकर कह दो कि मैं उनके सिर के दर्द का असल कारण समझ गया हूँ। अब जो कुछ होना था, वह तो हो गया; क्योंकि जिस धोखे में मैं पड़ चुका, उसके सुधार का अब कोई उपाय नहीं है। फिर वे ही यदि मेरे साथ बैठकर भोजन न करेंगे तो और कौन करेगा?"

इस पर प्रताप ने अनेक प्रकार के बहाने कर बात टालनी चाही, पर मान ने बिना उनके भोजन न किए। अंत में अन्य उपाय न देख प्रताप को कहलाना पड़ा कि—"जिस राजपूत ने मुगल के साथ अपनी बहन ब्याह दी, उसके साथ उसने खाया अवश्य ही होगा। अतः सूर्यवंशी बाप्पा रावल का वंशधर ऐसे के साथ कभी भोजन नहीं कर सकता।" इससे मानसिंह ने बहुत बुरा माना। उनका बुरा मानना उचित था कि अनुचित, इस पर लोगों में मतभेद है। हमारी समझ में मान को इस बात को बढ़ाना उचित न था; क्योंकि मान स्वयं ही इस अपमान के पात्र बने थे। प्रताप ने उन्हें आमंत्रित नहीं किया था। दूसरी बात यह है कि मान भली भाँति जानते थे कि प्रताप ने उनके साथ हर प्रकार का संबंध त्याग दिया था। मान ने स्वयं ही प्रताप से अतिथि-सत्कार पाने की प्रार्थना की थी। यदि प्रताप मान को आमंत्रित कर उनके साथ ऐसा व्यवहार करते, तो उनका यह व्यवहार अनुचित कहा जा सकता था। अतः प्रताप को हम इसके लिये दोषी नहीं ठहरा सकते। इसमें सरासर दोषी थे तो मानसिंह जो जान-बूझकर वैर का बीजारोपण करने गए थे। अस्तु।

मान ने भोजन न किया और जो दो चार ग्रास नैवेद्य के लिये उन्होंने निकाले थे, उन्हें अपनी पगड़ी में रखकर वहाँ से वे चल दिए। मान को आसन से उठते देख प्रताप उनके सम्मुख गए। प्रताप को देख मान ने कहा—

मानसिंह—आप ही की मान मर्यादा बचाने के अभिप्राय से हमने अपने मान एवं गौरव को जलांजलि दी और अपनी बहन मुगल को दी। इतने पर भी जब आपमें और हममें विषमता बनी ही रही, तो स्मरण रखिए कि आपकी इस स्थिति में भी न्यूनता अवश्य ही आवेगी। यदि आपकी यही इच्छा है कि आप सदा विपत्ति ही में अपना जीवन बितावें, तो आपकी यह मनोकामना शीघ्र ही पूरी होगी। अब अधिक काल तक मेवाड़ की भूमि आपको अपनी गोद में नहीं रख सकेगी।

यह कहकर मान अपने घोड़े पर सवार हुए और तब कड़ी दृष्टि से प्रताप की ओर देखकर बोले—

मान—यदि मैंने तुम्हारे इस मान को चूर्ण न किया तो मेरा नाम मानसिंह नहीं।

मानसिंह के इस प्रलाप के उत्तर में वीरवर प्रताप ने घृणा के साथ केवल यही कहा—

प्रताप—अच्छा! अच्छा!! मैं आपकी बातें सुन प्रसन्न हुआ। संग्रामभूमि में आपके दर्शन पाकर मैं बहुत संतुष्ट होऊँगा।

महाराणा की बात पूरी होते ही प्रताप के एक सहचर ने यह भी कहा—"देखना। अपने बहनोई अकबर को भी अपने साथ लिवा लाना।"

इस कहासुनी के बाद मानसिंह तो रोष में भर कर वहाँ से चल दिए, पर जहाँ उनके लिये भोजन आदि का प्रबंध किया

गया था वह भूमि अपवित्र समझ कर खोद डाली गई और उस पर गंगाजल छिड़का गया। जो पात्र मानसिंह के काम में आए थे, वे उसी समय तोड़ डाले गए; और जो सरदार तथा सामंत वहाँ थे, उन सबने जाति-भ्रष्ट मानसिंह को अपने सामने देख उस पाप से निवृत्त होने के अभिप्राय से तत्काल स्नान किया और कपड़े बदले।

उस दिन उदयसागर के तट पर जो जो कार्य हुए, उन सब का वृत्तांत अकबर ने भी सुना। उसने मानसिंह के अपमान को अपना अपमान समझा। क्षमताशाली अकबर का क्रोध भड़क उठा। अभी तक अकबर की धारणा थी कि राजपूत अपने प्राचीन संस्कारों को छोड़ बैठे होंगे। पर यह उसका भ्रम था। मानसिंह के अपमान का बदला लेने के अभिप्राय से अकबर ने रण की तैयारियाँ कीं।

दिल्लीश्वर अकबर का पुत्र सलीम बड़ी भारी सेना लेकर प्रताप से युद्ध करने के लिये मेवाड़ की ओर प्रस्थानित हुआ। इसके साथ मानसिंह भी थे और सागरजी का जाति-भ्रष्ट विख्यात पुत्र महाबत खाँ भी था। इधर तो यह तैयारी और उधर वीर-केसरी प्रताप के पास केवल बाईस सहस्र राजपूत और कुछ भील सहायक थे। ये सहायक तो थे ही, पर सबसे बढ़कर सहायदाता उनके हृदय का प्रचंड उत्साह था। प्रताप ने पहले तो अपनी सेना को अरावली के बाहरी प्रदेश में भेजा। फिर उस सेना को लिए हुए वे सुगम

पश्चिमी गिरिमार्ग से होते हुए वे ससैन्य अरावली शैलमाला की प्रधान घाटी में जा पहुँचे।

इस घाटी के ऊपर प्रताप बड़ी सावधानी से डटे रहे। यह स्थान नवानगर और उदयपुर के पश्चिम की ओर था। इसकी लंबाई तीस और चौड़ाई चालीस कोस की थी। यह सम चौकोर विशाल देश केवल पर्वतों और वनों से घिरा हुआ है। इसके बीच बीच में छोटी छोटी नदियाँ टेढ़ी मेढ़ी होकर बहा करती हैं। यदि इस प्रदेश को उदयपुर के दुर्गम गिरिदेश का मध्यबिंदु कहें तो अनुचित न होगा। ये मार्ग इतने संकीर्ण हैं कि इन पर दो गाड़ियाँ बराबर बराबर होकर कठिनता से निकल सकती हैं। यहाँ पर खड़े होकर दृष्टि डालने पर ऊँचे ऊँचे पर्वतों और वृक्षों के सिवा चारों ओर कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता। इसी स्थान का नाम हल्दी घाटी है। सशस्त्र राजपूत इस घाटी का मुहाना रोककर खड़े रहे। घाटी की दूसरी ओर प्रताप के विश्वस्त भील खड़े हुए। भीलों के पास ही पत्थरों के छोटे बड़े बहुत टुकड़े पड़े थे।

इस इतिहास-प्रसिद्ध घाटी के मैदान में मेवाड़ के प्रधान वीरों को लेकर राणा प्रताप खड़े हुए और शत्रु-सेना के आने की प्रतीक्षा करने लगे। सं० १६३२ के श्रावण मास की शुक्ला षष्ठी और सप्तमी को दोनों दलों में घोर संग्राम हुआ। निडर प्रताप ने सबके आगे बढ़कर शत्रु का व्यूह तोड़ा। महाराणा के साहस, विकट विक्रम और रणकौशल से उन्मत्त

होकर उनके सरदार और सामंत मुगल सेना पर इस प्रकार झपटे जैसे सिंह मृगों के झुंड पर झपटता है। प्रताप का श्रम सफल हुआ। उनके प्रचंड विक्रम से शत्रुओं के मोरचे टूट गए। उस तितर बितर मुगल सेना को दलित, मलित और त्रस्त कर प्रताप राजपूत-कुलांगार मानसिंह को ढूँढ़ने लगे। परंतु वह डरपोक उस दिन कहीं न मिला। प्रताप की तलवार के आघात से अगणित शत्रु सैनिक यमपुर सिधारे। शत्रु-सेना के योद्धा प्रताप की प्रबल गति को न रोक सके।

मानसिंह को खोजते हुए प्रताप सलीम के सामने पहुँच गए। हिंदुओं के कपट शत्रु अकबर के पुत्र को देखकर उनका साहस और उत्साह दूना हो गया। तलवार लेकर उन्होंने अपने घोड़े को सलीम के हाथी की ओर बढ़ाया। प्रताप के खड्ग प्रहार से सलीम के शरीररक्षक तो तत्क्षण ही सुरपुर सिधारे। उधर चेटक ने सलीम के हाथी की सूँड़ को दबा-कर, उसके मस्तक पर अपने दोनों पैर जमा दिए। तत्क्षण ही महाराणा ने सलीम पर अपना भाला चलाया। सौभाग्य से सलीम का हौदा लोहे का था। उनका भाला उसी पर टकराया और शाहजादा बच गया। पर उछलकर वह भाला महावत को लगा और उसके आघात से महावत तुरंत ही यम-पुर चल बसा। महावत के पृथिवी पर गिरते ही डरा हुआ सलीम का हाथी रणक्षेत्र से भाग खड़ा हुआ।

सलीम भागा, पर प्रताप ने फिर भी उसका पीछा न छोड़ा। हाथी के पीछे पीछे चेटक को भी प्रताप ने दौड़ाया। उस समय दोनों दलों में विषम रूप से युद्ध होने लगा। एक ओर तो असंख्य मुसलमान सैनिक और दूसरी ओर अल्प-संख्यक किंतु निडर और कठोर राजपूत वीर। अपने शाहजादे की प्राणरक्षा के लिये मुगल सेना प्राणपण से युद्ध करने लगी। इधर राजपूत वीर भी प्रताप की रक्षा के लिये प्राणों की ममता छोड़ युद्ध करने लगे। इन राजपूतों के हाथों से सैकड़ों मुगल वीर मारे गए। पर इससे उनकी विशेष क्षति नहीं हुई; क्योंकि एक मुगल सैनिक के मारे जाते ही दस मुगल सैनिक उसके शून्य स्थान पर आ डटते थे। पर राजपूत वीर तो संख्या में इतने न थे; अतः उनकी संख्या घटने लगी। पर प्रताप को इसकी तिल भर भी चिंता न थी। वे निर्भीक हो राजपूत-कुलांगार मानसिंह को ढूँढ़ते फिरते थे। उनके मस्तक पर उस समय मेवाड़ का राजछत्र लगा हुआ था। उसे पहचानकर मुगल सेना ने उन्हें घेर लिया।

प्रताप के लिये यह पहला हो अवसर संकट का न था। इन्हीं राजचिह्नों की बदौलत तीन बार पहले भी इन्हें विपत्ति में पड़ना पड़ा था। पर इससे क्या, वे तो आज रणोन्मत्त थे। पर इस बार की समस्या बड़ी विकट थी। उनके साथ इस बार एक भी सरदार न था, और शत्रु-दल ने उन्हें चारों ओर से घेर रखा था। अपनी शोचनीय अवस्था को

जानते हुए भी महाराणा तिल भर भी विचलित न हुए। वे अपने कठोर उद्यम, महान् उत्साह और खड्ग-संचालन के अपूर्व हस्त-कौशल द्वारा शत्रु सैनिकों को दलित और त्रस्त करते हुए मदमत्त गजराज की तरह रण-क्षेत्र में भ्रमण कर रहे थे। शत्रु-गण उन पर अस्त्रों की अविराम वर्षा कर रहे थे; इससे उनके शरीर में सात* घाव भी हो गए थे। उन घावों से रक्त बह रहा था और उनके वस्त्र लाल हो गए थे। वे अद्भुत चातुर्य के साथ शत्रु के व्यूह को भंग कर वहाँ से निकलने का यत्न करने लगे।

इसी समय दूसरी ओर से "राणा प्रताप की जय" का गगनभेदी शब्द सुन पड़ा। उसे सुनते ही प्रताप का उत्साह दूना बढ़ गया। इतने में झालापति मन्नाजी झपटते हुए ससैन्य प्रताप के समीप जा पहुँचे और अपने प्राणों को उत्सर्ग कर अपने स्वामी के प्राणों की रक्षा की। मन्नाजी ने प्रताप के मस्तक से मेवाड़ाधीश के राजचिह्नों को उतार कर अपने मस्तक पर रख लिया। उन चिह्नों की बदौलत शत्रुओं ने प्रताप को छोड़कर मन्नाजी को अपने आक्रमण का लक्ष्य बनाया। प्रताप बच गए; पर मन्नाजी अपनी सेना सहित मारे गए। तब से झालापति मन्नाजी के वंशधरों का सम्मान मेवाड़ाधीश की राजसभा में दूना हो गया है।

---

* तीन भाले के, एक गोली का और तीन तलवार के, इस प्रकार महाराणा के शरीर में सात घाव लगे थे।

इस हल्दी घाटी के प्रथम दिवस के इस भयंकर रण के समाप्त होने पर प्रतापसिंह चेटक पर सवार हो अकेले रण-भूमि से चले। उस समय उनके सारे शरीर से रुधिर बह रहा था। वे शत्रुओं को मारते मारते थक गए थे। उनके चेटक की भी उन्हीं जैसी दशा थी। तिस पर भी वह अपने स्वामी की सेवा से विमुख नहीं हुआ था। वह उन्हें पर्वत की ओर लिए जाता था। पर उस समय भी राणा निरापद न थे। दो मुगल सैनिक उनके पीछे लगे हुए थे। ये तीनों शीघ्र ही एक गहरी और तीव्र वेगवती नदी के तट पर पहुँचे। चेटक तो एक ही छलाँग में अपने स्वामी सहित उस पार होकर वेग से भागा। पर उन दोनों मुगल सैनिकों को रुक जाना पड़ा। घायल होने और घावों से बहुत सा रक्त बह जाने के कारण चेटक क्रमशः शिथिल हो रहा था। उसकी गति भी धीमी हो गई थी। अतः वे दोनों मुगल नदी पार कर और तेज चल शीघ्र ही प्रताप के समीप पहुँच गए। उसी समय प्रताप ने दूर से गोली के चलने का शब्द सुना और साथ ही किसी ने पीछे से राणा की बोली में कहा—"हो! नीला घोड़ारा अस-वार"। प्रताप ने चकित हो पीछे देखा; और जो कुछ देखा, उससे वे बहुत क्रुद्ध हुए। उन्होंने देखा कि उनके पीछे उनका भाई शक्तसिंह अपने घोड़े पर चढ़ा हुआ चला आता है।

शक्तसिंह प्रताप के भाई थे, पर वे लड़कर प्रताप से अलग हो गए थे। अलग ही नहीं हुए थे, किंतु प्रताप के

परम शत्रु अकबर से जा मिले थे। उनकी यह इच्छा थी कि भाई का नाश करके अपने हृदय की जलन मिटावें। पर आज शक्तसिंह ने अपने भाई प्रताप को नीले घोड़े पर चढ़कर अकेले ही संग्राम-भूमि से भागते देखा। बड़े भाई के प्राणों पर संकट देख शक्तसिंह से निश्चिंत न रहा गया। उनका कठोर हृदय पसीज उठा। पिछली सभी बातें वे भूल गए और मुगल सेना को छोड़ तत्काल ही प्रताप के पीछे हो लिए। रास्ते में उन दोनों मुगलों को मारकर, जो प्रताप के पीछे लग गए थे, शक्तसिंह बड़े भाई के पास पहुँचे।

उधर गोली के चलने का शब्द और अपने वैरी भाई शक्तसिंह को पीछे देख प्रताप को बड़ा क्रोध उपजा। उन्होंने झट अपनी तलवार को म्यान से खींच लिया और शक्तसिंह के निकट आने की प्रतीक्षा करने लगे। पर ज्योंही उन्होंने शक्तसिंह का दीन मलीन मुख देखा, त्योंही उनका सारा संदेह जाता रहा। तदनंतर जब शक्तसिंह ने वीर बड़े भाई के चरणों में सिर रखकर क्षमा प्रार्थना करते हुए और नेत्रों से आँसू बहाकर पश्चात्ताप प्रकट किया, तब तो प्रताप का हृदय विलक्षण भावों की तरंगों से उछलने लगा।

बहुत दिनों के बिछुड़े भाई आज मन खोलकर एक दूसरे से मिले। इस अपूर्व आनंद के समय एक बड़ी दुःख-दायिनी घटना हुई। प्रताप के प्यारे घोड़े चेटक ने प्राण त्याग दिए थे। चेटक प्रताप का प्राण-रक्षक था। उसे गँवाकर प्रताप

को आज कितना शोक हुआ होगा, इसका अनुमान हमारे पाठक स्वयं कर लें। भाई के घोड़े को मरा देख शक्तसिंह ने प्रताप को अपना घोड़ा दिया।

पर भाई भाई का यह सुख-सम्मिलन बहुत देर तक न रह सका। शक्तसिंह को डर उत्पन्न हुआ कि सलीम को कहीं उन पर किसी प्रकार का संदेह न उपजे। अतः वे मुगल सेना में लौट गए। जाते समय शक्तसिंह ने बड़े भाई के पैर छू कर कहा—"अवसर मिलते ही मैं शीघ्र आपसे आ मिलूँगा।"

असल बात यह थी कि जिन दो मुगलों ने महाराणा का पीछा किया था, उन्हें शक्तसिंह ही ने मारा था। इनमें से एक खुरासानी और दूसरा मुलतानी था। शक्तसिंह ने जब अपना घोड़ा भाई को दे दिया, तब वे स्वयं खुरासानी सैनिक के घोड़े पर चढ़कर मुगल शिविर में पहुँचे। परंतु जो शङ्का शक्तसिंह के मन में उत्पन्न हुई थी, वह अब आगे आई। शक्तिसिंह के लौटने में विलंब देख और उनके मुख का भाव देख सलीम को उन पर संदेह उत्पन्न हुआ। खुरासानी और मुलतानी का हाल बतलाते हुए शक्तसिंह ने बात बनाकर कहा कि प्रताप ने केवल उन दोनों ही को नहीं मार डाला, बल्कि मेरे घोड़े को भी समाप्त कर दिया। इसी से मुझे हारकर खुरासानी के घोड़े पर सवार होकर आना पड़ा है। बनावटी बात छिपती नहीं। सलीम को इस पर विश्वास न हुआ और उसने गंभीरतापूर्वक शक्तसिंह से कहा—"यदि आप सब

हाल सच सच कह दें तो मैं आपको क्षमा कर दूँ।" सलीम की बात पूरी होते न होते शक्तसिंह ने कड़ककर कहा---

शक्तसिंह—मेरे ज्येष्ठ भ्राता के ऊपर एक विशाल राज्य का भार है। सहस्रों मेवाड़-निवासियों का सुख दुःख उन्हीं के ऊपर निर्भर है। इस समय वे संकट में हैं। फिर भला उनका उस संकट से उद्धार किए बिना मैं क्योंकर निश्चिंत रह सकता हूँ?

सलीम पहले ही शक्तसिंह को अभयदान कर चुके थे, अतः उनसे कहा कुछ नहीं, पर उन्हें अपने यहाँ से तुरंत ही विदा कर दिया। इसे शक्तसिंह ने अपने पक्ष में अच्छा ही समझा। वे तुरंत उदयपुर जाकर अपने बड़े भाई से मिले। उदयपुर आते समय शक्तसिंह ने मार्ग में भिंसरोर नामक दुर्ग पर आक्रमण कर अपने अधिकार में कर लिया और यही दुर्ग अपने भाई को अर्पण कर उनके चरणों की बंदना की। उदार प्रतापसिंह ने उस जीते हुए दुर्ग की भूमि वृत्ति में अपने भाई को दे डाली। उस समय अपने बड़े भाई के प्राण बचाने के कारण शक्तसिंह की लोगों ने बड़ी बड़ाई की और उनका बड़ा सम्मान हुआ।

उधर सलीम हल्दी घाटी के पार्वत्य प्रदेश को त्यागकर चल दिया। वर्षा ऋतु के आरंभ होने से नदियों में बाढ़ आई, पर्वतों के मार्ग दुर्गम हो गए; अतः मुगलों के कार्य में बाधा पड़ी। इस बीच में प्रताप को कुछ समय के लिये विश्राम

मिला। किंतु वर्षा बीतते ही और शीत ऋतु के आते ही ज्योंही गिरिपथ ठीक और आने जाने योग्य हुए, त्योंही मुगलों की सेना ने फिर चढ़ाई की। इस बार भी राणाजी की बहुत क्षति हुई और उन्हें उदयपुर छोड़कर कमलमेर में अपनी छावनी डालनी पड़ी। पर वहाँ भी मुगल सेनापति ने जाकर उस दुर्ग को घेर लिया। मुगलों के सारे प्रयत्नों को विफल करते हुए प्रताप उस दुर्ग में बहुत दिनों तक रहे। परंतु स्वदेश-द्रोही देवराज की शत्रुता से प्रताप को यह स्थान भी छोड़ना पड़ा।

कमलमेर में नागन नामक एक विशाल कूप था। वहाँ सब लोग इसी का जल पिया करते थे। देवराज ने यह हाल मुगलों को बतलाया और साथ ही विषधर सर्प द्वारा इस जल को बिगाड़ने की सलाह दी। तदनुसार उस कूप का जल विषैला किया गया। जलाभाव से प्रतापसिंह को बड़ा कष्ट होने लगा। अतः कमलमेर छोड़कर उन्हें चोंड नामक गिरि दुर्ग में चले जाना पड़ा। मुगल सेना ने वहाँ भी प्रताप का पीछा किया। सरदार मानसिंह (मन्ना झाला) ने मुगल सेना के ग्रास से चोंड के उद्धार का प्रयत्न करते हुए रणक्षेत्र में बड़ी वीरता के साथ अपने प्राण विसर्जन किए।

कमलमेर के घिर जाने पर मानसिंह ने धरमेती और गोगुंडा नामक दो दुर्गों पर अधिकार कर लिया। उधर महाबतखाँ ने उदयपुर ले लिया। अमीशाह नामक एक यवन शाहजादे ने चोंड और अगुणापानोर के बीच में छावनी डालकर भीलों

और प्रताप का संबंध तोड़ दिया। दूसरी ओर से फरीदखाँ नामक एक यवन सेनापति चपन को घेरकर दक्षिण में बढ़ता हुआ चोंड तक पहुँच गया। चोंड चारों ओर से घिर गया। यद्यपि चोंड को शत्रुओं ने घेर तो लिया, पर इतना साहस किसी को न हुआ कि चोंड में घुसकर प्रताप को पकड़े। प्रताप वन वन, पहाड़ पहाड़ घूमते और शत्रु उनका पीछा करते थे। प्रताप छिपे छिपे इसलिये घूमते थे कि जिससे उन्हें शत्रुओं की मति गति का हाल विदित होता रहे। साथ ही जब वे शत्रुओं को असावधान पाते, तब वे उन पर आक्रमण भी किया करते थे। इस प्रकार साधारण युद्ध करते करते प्रताप को बहुत दिन बीत गए। शत्रु अनेक प्रयत्न करने पर भी प्रताप को न पकड़ सके।

फरीदखाँ ने चोंड घेरकर अपने मन में समझ लिया था कि प्रताप अब मेरे पंजे से निकलकर जा ही कहाँ सकता है। पर उसकी सारी आशा धूल में मिल गई। प्रताप ने उसकी सम्पूर्ण सेना एक घाटी में फँसाकर नष्ट कर डाली। इसी प्रकार और भी अनेक नामी मुगल वीर प्रताप की तलवार से मारे गए। तब तो मुगल सेना का साहस और उत्साह धीरे धीरे कम होता गया। इतने में वर्षा ऋतु आरंभ हुई। वर्षा की अविरल जल-धार से पहाड़ी नदियाँ, नद-नाले सब चढ़ आए। विषैली पत्तियों के सड़ने से पहाड़ से ऐसी विषैली हवा चली कि शत्रु की ओर के अनेक सैनिक बीमार पड़ गए। विवश होकर

युद्ध बंद करना पड़ा। इस प्रकार वर्षा ऋतु भर प्रताप विश्राम कर लिया करते थे।

इसी प्रकार कई वर्ष बीत गए। संसार में अनेक परिवर्तन हुए, पर महाराणा प्रताप की टेक ज्यों की त्यों बनी रही। पर मुगलों ने एक एक करके प्रताप के आश्रय-स्थलों पर अधिकार कर लिया। यद्यपि प्रताप को अपनी तिल भर भी चिंता न थी, पर उनका परिवार कभी कभी दु:ख का कारण हो उठता था। शत्रु की चिंता तो कुछ काल ही तक उनके मन में रहती थी, पर पारिवारिक चिंता सदा उनको जलाया करती थी। बड़ी शंका यह थी कि कहीं उनके पुत्र-कलत्रादि शत्रुओं के हाथ में न पड़ जायँ। यह शंका निर्मूल न थी। कई बार उनके परिवार के लोग शत्रु के हाथ में पड़ते पड़ते बच चुके थे। एक बार तो ये लोग शत्रु के हाथ में पड़ ही गए थे, पर भीलों द्वारा ये निकल सके थे। भीलों ने राणाजी के घरवालों को टोकरों के भीतर रखकर, जावरा की टीन की खानि में जा छिपाया था। अब भी जावरा और चोंड के निर्जन वनों के विशाल वृक्षों की चोटियों पर अगणित कीलें और कड़े गड़े हुए दिखाई पड़ते हैं। परम विश्वासी भील इन्हीं पर टोकरों में प्रताप के परिवार के लोगों को लटकाकर, बनैले पशुओं से उनकी रक्षा किया करते थे। प्रताप के बाल बच्चे बेंत के टोकरों में पड़े हुए बनैले कसैले फलों को खाकर समय बिताते थे। अपने बाल-बच्चों की यह दशा देखकर भी प्रताप का धैर्य नहीं टूटा था।

वीरश्रेष्ठ प्रताप की इस वीरता, धीरता और सहनशीलता का वृत्तांत अकबर के कानों तक पहुँचा। सुनकर उसके मुख से भी महाराणा की प्रशंसा निकल पड़ी। तिस पर भी इन सुनी हुई बातों की सत्यता जानने के लिये उसने प्रताप के वास-स्थान में अपना एक गुप्त दूत भेजा। उसने जाकर दूर से देखा कि महाराणा अपने सरदारों से घिरे हुए एक वृक्ष के नीचे तृणासन पर बैठे भोजन कर रहे हैं और सरदारों को भोजन करा रहे हैं। महाराणा के सरदार उनका प्रसाद बड़े चाव से खा रहे हैं। दूत ने अपनी आँखों देखी बातें लौटकर अकबर से जा कहीं। सुनते ही सभी दरबारियों के मन में प्रताप पर भक्ति उमड़ आई। सब लोग प्रताप की असीम महिमा से मुग्ध होकर, मुक्त कंठ से उनकी प्रशंसा करने लगे। यहाँ तक कि जिन नीचातिनीच अधम राजपूत कुलांगारों ने अपने कुलों की मर्य्यादा को जलांजलि देकर दिल्लीश्वर के चरणों में अपने शीश नवाए थे, वे भी बारंबार प्रताप के गुणों का बखान करने लगे। प्रसिद्ध खानखाना ने कहा—

"इस संसार में सारी वस्तुएँ चंचल और अनित्य हैं। क्या राज्य, क्या धन, सभी तो लुप्त हो जाते हैं, पर महापुरुषों की एकमात्र कीर्ति ही है जो सदा अमर रहती है। प्रताप ने अपना धन, राज्य सभी कुछ छोड़ा, पर उसने कभी किसी के सामने अपना सिर नहीं झुकाया। भारतवर्ष भर के वीर

राजपूतों में अकेले वे ही अपने पवित्र क्षत्रिय कुल के गौरव और मान-मर्य्यादा की रक्षा कर सके हैं।"

वैसे तो महाराणा प्रताप कभी अनुत्साहित नहीं होते थे, किंतु अपने परिवार की दुर्दशा देख कभी कभी उनका उत्साह भग्न हो जाता था। एक दिन की बात है। प्रताप की महारानी सघन वन में उनसे अलग पड़ी थीं। राजकुमारों को उस दिन कंदमूल फल भी नसीब न हो पाए थे। उस दिन पाँच बार भोजन करने की तैयारी की गई। पर पाँचों बार मुगलों के पीछा करने से भोजन करने का अवसर न मिल सका। एक बार शत्रुओं के आक्रमण से कुछ काल के लिये छुटकारा पाकर प्रताप अपने परिवार के साथ एक निर्जन वन में बैठे विश्राम कर रहे थे। महारानीजी तथा उनकी पुत्रवधू ने उस समय घास के बीजों को पीसकर कई एक रोटियाँ बनाई थीं, और उनमें से आधी रोटियाँ लड़के लड़कियों को बाँटकर, आधी दूसरे समय के लिये रख छोड़ी थीं। महाराणा प्रताप उस समय उन सबके समीप ही श्यामल तृणशय्या पर लेटे हुए अपने दुर्भाग्य और भारत की भावी दशा का विचार कर रहे थे। इतने में वे अपनी बेटी का मर्मभेदी चीत्कार सुन विस्मित हुए। उन्होंने रोती हुई बेटी को जिस अवस्था में देखा, उससे उनका हृदय विदीर्ण हो गया। उन्होंने देखा कि एक बनबिलाव कन्या की आधी रोटी लेकर भाग गया है और कन्या आधी रोटी के जाने से रो रही है।

यह देख प्रताप का माथा चक्कर खाने लगा। उन्हें चारों ओर अंधकार दिखलाई देने लगा। इसके पहले वे कभी धैर्यच्युत नहीं हुए थे; यहाँ तक कि वे समर-भूमि में नेत्रों के सामने, अपने प्यारे पुत्रों को स्वदेश के लिये प्राणोत्सर्ग करते देख चुके थे, पर उस भयंकर दृश्य को देखकर वे तिल भर भी विचलित नहीं हुए थे; क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि स्वदेश की रक्षा, अपने मान की रक्षा करना ही मानव मात्र के जीवन का मुख्य उद्देश्य है। इसी उद्देश्य को पूरा करना मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है। इस उद्देश्य-साधन में यदि पुत्रों अथवा मित्रों को समरभूमि में प्राण देने पड़ें तो उनके लिये दुःख करना अनावश्यक है। परंतु आज आधी रोटी के लिये प्राणप्यारी कन्या को बिलख बिलखकर रोते देख प्रताप धैर्य-च्युत हो गए। उनके मुख से सहसा निकल पड़ा—

"यदि इस प्रकार की मनोवेदना को देखकर राजमर्य्यादा की रक्षा करनी पड़े तो उस मर्य्यादा को सौ बार धिक्कार है!"

कहा जाता है कि यह इरादा पक्का कर उन्होंने अकबर के पास संधि का प्रस्ताव भेज दिया। प्रताप का संधिपत्र पाकर अकबर के आनंद की सीमा न रही। उसकी राज-धानी में यह आनंद बड़ी धूमधाम से मनाया गया। अकबर ने बड़े आनंद में भरकर प्रताप का वह पत्र पृथिवीराज को दिखाया। वह पृथिवीराज बीकानेर-नरेश के छोटे भाई थे। वह बड़े प्रतिभाशाली कवि थे। उन्होंने जब यह बात सुनी

कि महाराणा ने संधि का प्रस्ताव किया है, तब उन्हें बड़ा कष्ट हुआ। उनको विश्वास न हुआ कि यह पत्र सचमुच प्रतापसिंह का है। वे अपनी इस धारणा को अपने मन में छिपाकर न रह सके। उन्होंने अपनी स्वाभाविक वीरता और निर्भयता के साथ शाहंशाह अकबर से कहा—

पृथिवीराज—यह पत्र प्रताप का नहीं है। मैं उनके हृदय को भली भाँति पहचानता हूँ। यदि आप अपना ताज भी उनके सिर पर रख दें, तो भी वे दिल्ली के तख्त के आगे कभी अपना सिर न झुकावेंगे।

अंत में उन्होंने अकबर की अनुमति से एक पत्र प्रताप को लिखा। वह पत्र पद्यमय और मेवाड़ी भाषा में था। उस पत्र का आभास मात्र नीचे के पद्य में दिया जाता है।

पृथिवीराज का पत्र

प्रतापसिंह के

नाम

निर्भर राना पाहि सकल हिंदुन की आसा।
सब गौरव सन्मान हमारो तुम्हरे पासा॥
भूले छत्रिय निज गौरव प्राचीन समय कों।
गई जाति यह राजपूत अब हाय नरक कों॥
छत्रिय नारी दियो खोय निज कुल गौरव कों।
अकबर गाहक एक हाय! सब रजपूतन कों॥

लीनो सबहि बिसाय[1] बचो इक वीर प्रतापा ।
उदयपुत्र[2] को मोल नहीं अकबर के पासा ॥
को है ऐसो पुत्र सुद्ध छत्रिय को जायो ।
"नौरोजा[3]" में जो चाहत सन्मान बिकायो ॥
किते हाय ! पै कुलकलंक यह कारज कीन्हो ।
पै का अब चित्तौर चहत निज आदर दीन्हो ॥
सबै रतन अनमोल हाथ अकबरहि बिकाये ।
पै मेवारी बीर नहीं बिपनी[4] में आये ॥
राना ने संपत्ति, राज्य, धन सुख कों छोड़ो ।
पै अमूल्य वह रत्न नहीं राना ने छोड़ो ॥
केते जन अपमान आपनो, आँखिन देखत ।
पै हमीर को वंश नाहिं बिपनी में लेखत ॥
पूँछत है संसार कौन बल राना पायो ?
वह बल केवल तासु खड्ग के द्वारा जायो ॥
वाहि खड्ग सों राना निज सम्मान बचायो ।
परतिज्ञा निज पाल महद् उत्साह दिखायो ॥
कोऊ जन नहिं अमर एक दिन मरनो सबकों ।
सब राखैं यह ध्यान चिता में जरनो सबकों ॥
जब ठगि जैहैं राजपूत गन सकल हाट में ।
तब गौरव सन्मान सौंपिहैं पुत्र[5] हाथ में ॥

---

१ खरीद। २ महाराना प्रताप । ३ इसका हाल आगे दिया जायगा ।
४ बाजार । ५ प्रताप का नाम ।

तब वरवीर प्रताप वीर छत्रिय को बोवै।
जासों इक दिन जाति हमारी जग नहिं खोवै॥
वीरश्रेष्ठ परताप, हमारो मान रखैहैं।
तासों छत्रिय मात्र आपकी ओर बिलोकैं॥

पृथिवीराज ने अपने पत्र में जो कविता लिखी थी, उसका अंतिम दोहा उन्हीं की भाषा में यह है—

धर बाँकी दिन पाँधरा, मरद न मूके माण।
घरे नरिंदा घेरिया, रहे गिरिंदाँ राण॥

पृथिवीराज के पत्र की भाषा से दो अर्थ निकलते हैं। एक तो यह कि पृथिवीराज ने महाराणा से कारण पूछा कि तुम अकबर की वश्यता क्यों स्वीकार करते हो। पत्र का गुप्त अर्थ यह है कि पृथिवीराज महाराणा से अनुरोध करते हैं कि तुम इस अपमान से बचो। पर अनुवाद में मूल कविता के शब्दों की सी सुंदरता नहीं आ सकी है। अस्तु। पृथिवीराज ने अपना पत्र एक दूत द्वारा प्रताप के पास भेजा।

पृथिवीराज की तेजस्विनी कविता पढ़कर वीरकेसरी प्रताप की भुजा फड़कने लगी और उनके शरीर में नव-जीवन का संचार हुआ। वे मुसलमानों को उनके अत्याचारों का फल चखाने के लिये फिर से युद्ध की तैयारी करने लगे। इधर प्रताप को विनम्र समझ मुगल सेनापति भी शिथिल पड़ गए थे और आनंदोत्सव में मग्न थे। इसी अवसर को सुअवसर समझ प्रताप ने उन पर आक्रमण किया। इस आक्रमण में बहुत से

मुसलमान मारे गए और बहुत से डरकर भाग गए। पर जितने मुसलमान मारे गए थे, उनसे तिगुने मुसलमान दिल्ली से आ गए। वे फिर प्रताप का पीछा करने लगे। पर उन असंख्य मुसलमानों में से एक भी उनका एक बाल भी न स्पर्श कर सका। प्रताप छिपे रहते और अवसर हाथ लगते ही शत्रुसेना पर आक्रमण कर उसको समूल नष्ट कर डालते थे।

इस प्रकार कई वर्षों तक प्रताप को वन वन घूमना पड़ा। वनों में अब फलों और कंद मूलों तक का अभाव हो गया। तब तो प्रताप ने सिंधु नद के तट पर बसे हुए सगदी राज्य में जा अपनी वैजयंती गाड़ने का संकल्प किया। यात्रा की सारी तैयारियाँ हो गईं। उनके साथी सरदार भी उनके साथ जाने को तैयार हुए। उन सरदारों और उनके परिवार के लोगों को साथ लेकर प्रताप अरावली के शिखर पर चढ़े। वहाँ चढ़कर उन्होंने अपने प्राणप्यारे चित्तौर की ओर सतृष्ण दृष्टि से देखा। चित्तौर देखते ही उनके चित्त-पट पर अनेक प्रकार की चिंताएँ और भावनाएँ उठीं तथा विषाद की रेखा अङ्कित कर लुप्त होने लगीं। पर इस विषादमय अभिनय का सहसा रंग पलटा। सौभाग्यलक्ष्मी ने इस विपन्न वीरवर को अपना लिया।

प्रताप को अपनी उस जन्मभूमि से—जिसकी रक्षा के लिये उन्होंने इतने कष्ट भोगे थे, इतने वीरों का रक्त बहाया था—बिदा न माँगनी पड़ी। अरावली के शिखर से उतर ज्योंही वे मरु-भूमि की सीमा पर पहुँचे, त्योंही उनके मंत्री भामा शाह ने

असीम धनराशि लाकर उनके सामने रख दी। यह धनराशि भामा शाह ही की उपार्जित न थी, किंतु इसमें उनके पूर्व-पुरुषों की भी कमाई थी। इस धन से महाराणा बारह वर्ष तक पचीस हजार सैनिकों का भरण-पोषण कर सकते थे। इस उपकार के बदले भामा शाह को "मेवाड़ के उद्धारकर्त्ता" की उपाधि मिली।

महाराणा ने अपने तितर-बितर हुए सरदार सामंतों को तुरंत ही एकत्र कर लिया और नवीन उत्साह से क्रुद्ध सिंह की तरह मुगल सेनापति शहबाजखाँ पर आक्रमण किया।

मुगलों ने प्रताप को चुपचाप देख समझ रखा था कि प्रताप मारवाड़ को भाग गए; और शहबाजखाँ अपनी सेना सहित देवीर नामक स्थान में छावनी डालकर निश्चिंत पड़ा था। उसको प्रताप ने चारों ओर से घेर लिया। देवीर के मैदान में बहुत देर तक दोनों दलों में संग्राम हुआ। शहबाजखाँ अपनी समस्त सेना सहित वहीं मारा गया। अनेक मुसलमान अमैत नामक स्थान को भाग गए जहाँ पर दूसरी मुगल सेना का पड़ाव था। प्रताप उनका पीछा करते अमैत में पहुँचे और वहाँ भी मुगल सेना का संहार किया। इस संवाद को सुनते ही मुगल बहुत घबराए। उन्होंने प्रताप को ससैन्य बंदी बनाने का मनसूबा बाँधा। मुगल अपनी तैयारियाँ कर ही रहे थे कि इतने में प्रताप ने कमलमेर की मुगल सेना को जा घेरा। इस मुगल सेना का सेनापति अबदुल्ला अपनी सेना सहित

मारा गया। कुछ ही काल में प्रताप ने बत्तीस दुर्ग अपने अधिकार में कर लिए। इन बत्तीसों दुर्गों में जितने मुसलमान थे, वे सब मार डाले गए। इस प्रकार कुछ ही काल में प्रताप ने अजमेर, चित्तौर और मंडलगढ़ को छोड़ समस्त मेवाड़भूमि को मुसलमानों के चंगुल से निकाला।

यह सब तो हुआ, पर वीरकेसरी प्रताप को एक बात बहुत खटकी। वह यह थी कि उन्हें स्वदेशद्रोही मानसिंह का निश्चिंत हो बैठना बहुत खटका। इसे वे न सह सके और उन्होंने उस स्वदेशद्रोही के आमेर राज्य पर चढ़ाई की तथा वहाँ के प्रधान वाणिज्य के केंद्र मालपुर को उजाड़ डाला।

इसके कुछ ही दिनों बाद उदयपुर पर भी प्रताप का अधिकार हो गया। अपनी राजधानी उदयपुर के लेने में महाराणा को विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ा। मुसलमान अपने आप ही उदयपुर को छोड़कर चल दिए। कहा जाता है कि जब प्रताप ने उदयपुर के चारों ओर अपना अधिकार जमा लिया, तब बादशाह ने विवश होकर वह प्रदेश छोड़ दिया था। राजपूताने के कतिपय ग्रंथों में यह भी लिखा मिलता है कि अकबर ने प्रताप के अपूर्व साहस, वीरत्व और असीम उत्साह को देखकर ही दयावश हो उनको अधिक कष्ट देने का संकल्प त्याग दिया था। पर यह बात समझ में नहीं आती; क्योंकि यदि अकबर की दया ही इस बहुकालीन युद्ध बंद करने का कारण मान ली जाय, तो अकबर की दया का स्रोत उस

समय क्यों न बहा, जिस समय उसका गुप्त दूत अपनी आँखों से प्रताप के कष्टों को देख गया था ? जो हो।

यद्यपि प्रताप ने अपने हाथों ही मेवाड़ का खोया हुआ राज्य फिर पाया, किंतु उन्हें इस बात का मरते दम तक दुःख रहा कि वे अपने पूर्व-पुरुषों की राजधानी चित्तौर का उद्धार न कर सके। अकबर ने प्रताप के प्रति जो कुछ दया का बर्त्ताव आगे चलकर किया, उससे प्रताप सुखी न हुए; क्योंकि शत्रु का अनुग्रह मनस्वी वीर के हृदय में चुभता है।

पूर्व-पुरुषों की जन्मभूमि का उद्धार न कर सकना, प्रताप की विषम चिंता का कारण हुआ। यह चोट उस वीर के हृदय पर सांघातिक रूप से लगी। धीरे धीरे प्रताप के शरीर को इस चिंतारूपी अग्नि ने जलाकर निर्बल कर डाला। उनका कष्ट उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। अंत में महाराणा प्रतापसिंह अपने जीवन के मध्याह्न काल में इस असार संसार को छोड़ और "स्वर्गादपि गरीयसी" जन्मभूमि को अपने विछोह की दारुण यंत्रणा दे सुरपुर को सिधारे। प्रताप राजकुल में जन्मे थे; पर जैसी विपत्तियाँ उन्होंने झेलीं, वैसी एक दरिद्र से दरिद्र पुरुष भी कभी नहीं झेलेगा।

कुछ विचारशील लोगों का मत है कि प्रताप का जन्म इस अभागिनी भारतभूमि का यवनों के हाथ से उद्धार करने के लिये हुआ था। वे अपने इस उद्देश्य में यद्यपि सफल न हो सके, पर वे इसका श्रीगणेश अवश्य ही कर गए। पर उनका

यह अथ ही इति में परिवर्तित हुआ; क्योंकि उनके उत्तराधिकारी ऐसे न हुए जो उनके आरंभित व्रत को धारण कर उनका उद्देश्य पूरा करते।

प्रताप ने यद्यपि उदयपुर को पुनः अधिकारभुक्त कर लिया था, जिसमें अनेक दुमहले, तिमहले राजप्रासाद बने हुए थे, तथापि वे उन उत्तमोत्तम राजप्रासादों को छोड़कर पेशोला सरोवर के निकट कुटियाँ बनाकर रहा करते थे। अंतकाल के समय भी महाराणा ने इन्हीं कुटियों में से एक में पड़े पड़े अपने अंतिम काल की प्रतीक्षा की थी। उनके अंत समय में उनके विश्वस्त सरदारों ने उनकी मृत्युशय्या को चारों ओर से घेर लिया था। उस समय महाराणा ने एक बड़ी लंबी साँस ली थी। उसे देख सब सरदारों ने आँसू बहाकर महाराणा के प्रति कृतज्ञता प्रकट की थी और शालुंब्रापति के पूछने पर प्रताप ने कहा था—

प्रताप—सरदार-शिरोमणि! प्राण अब भी नहीं निकलते। केवल एक बात का विश्वास दिलाते ही मैं सुखपूर्वक प्राणत्याग कर सकूँगा। और यह काम आप ही कर सकते हैं। मेरे शरीर में प्राण रहते, मेरे सामने आप सब लोग प्रतिज्ञा करके कहें कि—"हम लोग अपने जीते जी अपनी इस मातृभूमि को कभी यवनों के हाथ में न जाने देंगे।" आपके मुख से इस प्रतिज्ञा के सुनते ही मैं सुखपूर्वक शरीर त्याग दूँगा। मेरा पुत्र अमर अपने

पूर्व पुरुषों के गौरव की रक्षा न कर सकेगा। वह यवनों के ग्रास से मातृभूमि को न बचा सकेगा; क्योंकि वह विलासी है और कष्ट-सहिष्णु नहीं है।

यह कहते कहते महाराणा का दुर्बल शरीर पीला पड़ गया। कुछ देर चुप रहकर महाराणा ने अमर के बाल्यकाल की दो एक घटनाएँ सुनाईं। वे कहने लगे—एक बार कुमार अमर उस नीची कुटी में जाते समय सिर की पगड़ी उतारना भूल गया था। इससे निकले हुए बाँस में उलझकर इसकी पगड़ी गिर पड़ी। इससे रुष्ट होकर इसने मुझसे दूसरे दिन कहा कि यहाँ पर बड़े बड़े महल बनवा दीजिए। यह कहते कहते प्रताप का मुखमंडल और भी गंभीर हो गया। उन्होंने लंबी साँस लेकर फिर कहा—"इन कुटियों के बदले यहाँ पर रमणीक भवन बनवाए जायँगे। मेवाड़ की दुरवस्था भूलकर अमर यहाँ भोग-विलास में लिप्त होगा। उसके विलासी होने पर हमारे कुल का वह गौरव और मातृभूमि की वह स्वाधीनता नष्ट हो जायगी, जिसको अचल बनाए रखने के लिये मैंने इतना परिश्रम किया और दुःख भोगे। अमर अपने सुख के लिये इस अमूल्य स्वाधीनता को गँवा देगा और तुम सब उसके इन अनर्थकारी उदाहरणों का अनुसरण कर मेवाड़ के पवित्र दुग्धफेन-निभ श्वेत यश में कालिमा पोत दोगे।"

प्रतापसिंह की बात पूरी होते ही समस्त सरदारों ने मिलकर कहा—"महाराज! हम सब बाप्पा रावल के पवित्र सिंहा-

सन की शपथ खाकर कहते हैं कि जब तक हममें से एक भी जीवित रहेगा, तब तक एक भी यवन इस पवित्र मेवाड़ भूमि पर अधिकार न करने पावेगा। और जब तक मेवाड़ भूमि की पूर्व स्वाधीनता को पूर्ण रीत्या प्राप्त न कर लेंगे, तब तक हम लोग इन्हीं कुटियों में रहेंगे।"

उन वीरों की यह सत्य प्रतिज्ञा सुनकर प्रताप की समस्त चिंताएँ दूर हुईं और वे आनंदपूर्वक इस लोक से सिधार गए।

पृथिवीराज (राठौर) की स्त्री

बीकानेर के राजा रामसिंह के पृथिवीराज छोटे भाई थे। दैव की विडंबना से यह मुगलों के बंदी हो गए थे, तथापि इनका हृदय असीम वीरता, महत्ता और स्वदेशप्रेम से भरा था। पृथिवीराज केवल वीर ही न थे, किंतु इनकी गणना उस समय के सर्वोत्कृष्ट कवियों में से थी। उपर्युक्त सुंदर गुणों से अलंकृत होने के कारण इनकी कविता भी बड़ी ओजस्विनी होती थी।

पृथिवीराज की भार्या शिशोदिया वंश की लड़की थी और प्रताप के भाई शक्तसिंह की पुत्री थी। प्रतिष्ठित वंश में जन्म लेने के कारण यह वीरबाला जैसी सुंदरी थी, वैसी ही गुणवती भी थी। इस वीर ललना के समान सर्वांगसुंदरी नारी उस समय रजवाड़ों में एक भी न थी। पृथिवीराज को ऐसी सुंदरी भार्य्या अवश्य ही किसी बड़े ही पुण्यबल से मिली थी, यह कहना अनुचित न होगा।

किसी संस्कृत कवि ने कहा है कि स्त्री का सौंदर्य ही कभी कभी उसका शत्रु बन जाता है। शत्रु भी ऐसा वैसा नहीं—किंतु स्त्री का सर्वस्व सतीत्व नष्ट करने का कारण भी स्त्री का सौंदर्य ही हुआ करता है। साथ ही जो सौंदर्यवती स्त्री ऐसी कठिन अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाती है, उसकी

कीर्त्ति अचल अटल बनी रहती है। पृथिवीराज की इस सुंदरी स्त्री की अग्नि-परीक्षा हुई थी और उसमें यह केवल उत्तीर्ण ही नहीं हुई थी, परंतु इसने अपने समय के भारतेश्वर की पापवासना को दूर करके अनेक सतियों के सतीत्व की रक्षा की थी। पृथिवीराज की अबला नारी-रत्न ने इस कार्य को कैसे पूरा किया था, इसी का वृत्तांत लिखा जाता है।

मुसलमानी अमलदारी में नौरोजा एक महोत्सव समझा जाता था। अकबर ने विशेष रूप से इस उत्सव को महत्व प्रदान किया था और इसका नौरोज नाम बदलकर खुशरोज नाम रखा था। प्रति मास के अनुष्ठित महोत्सव के हो जाने पर नवें दिन इस आनंदमय उत्सव का आरंभ होता था। अकबर की अमलदारी में इस दिन सभी प्रसन्न रहते थे। राजदरबार में इस दिन सब लोग बे-रोक टोक आ जा सकते थे। बेगम साहब भी बड़ी आन बान के साथ दरबार में सरे आम रौनक-अफरोज होती थीं। दरबार में बेगम साहब के कदमरंजा फरमाने पर अन्यान्य प्रतिष्ठित मुसलमानों और आश्रित राजपूतों के घर की स्त्रियाँ भी दरबार में जाती थीं।

इस खुशरोज का उत्सव केवल इस जनाने दरबार के साथ ही साथ पूरा नहीं होता था, बल्कि दरबार से सटा हुआ एक गुप्त स्थान था। वहाँ एक मेला लगा करता था। इस मेले में स्त्रियों को छोड़ पुरुष नहीं आने जाने पाते थे। व्यवसायी राजपूतों और मुसलमानों की स्त्रियाँ अनेक प्रकार के

सौदागरी माल लाकर इस मेले में बेचा करती थीं और राज-परिवार की स्त्रियाँ इस मेले में जाकर सौदा खरीदा करती थीं। बादशाह सलामत भी मरदाना वेश उतार और जनाना वेश धारण कर इस मेले में घूमा फिरा करते थे।

जो विचारशील हैं, वे इसी से अनुमान कर लेंगे कि इस मेले की जड़ में कुप्रवृत्ति का बीज गुप्त भाव से छिपा हुआ था। खुशामदी अब्बुलफजल ने इस मेले के उद्देश्य को वाक्योत्तरों में वर्णन कर, लोगों की आँखों में धूल डालनी चाही है। किंतु समय के अनिवार्य प्रभाव से सत्य का प्रकाश आप ही आप हो गया है।

अब्बुलफजल·जिस मेले की स्थापना राजनीतिक दृष्टि से बतलाता है, वह मेला अकबर ने अपनी पापवासना चरितार्थ करने के लिये स्थापित किया था। इस पापमय खुशरोज के मेलों में न जाने कितने राजपूत कुलों की पवित्र वंशमर्यादा कलंकित की गई थी। विवश हो अनेक राजपूत बालाओं का अमूल्य सतीत्व एक लंपट मुसलमान द्वारा नष्ट किया जाता था। भट्ट ग्रंथों में इन गुप्त अत्याचारों का विशद रूप से वर्णन पाया जाता है। इसी नौरोज अथवा खुशरोज का संकेत राठौर वीर पृथिवीराज ने अपने उस पत्र में किया था, जो उन्होंने प्रताप को लिखा था।

जगन्नाथ जैसे खुशामदी पंडितों ने जिस अकबर को "दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा" की उपाधि से विभूषित किया था,

जिसे इतिहास-लेखकों ने बड़ा निरपेक्ष शासनकर्त्ता बताकर झूठी प्रशंसा की है, उसी अकबर का भीतरी चरित कैसा था, इसका पता हमारे पाठकों को अभी लग जायगा। जिन हतभाग्य राजपूतों ने अपनी स्वाधीनता अकबर के हाथ बेच दी थी, उन्हीं राजपूतों की प्राणप्यारी स्त्रियों के सतीत्व रूपी अमूल्य रत्न का अकबर द्वारा ही चुराया जाना जब स्मरण हो आता है, तब अकबर कपट, स्वार्थ, विश्वासघात की जीती जागती मूर्ति बनकर आँखों में जलन उत्पन्न करने लगता है। अकबर के इस पापमय नौरोज में कितनी ही राजपूत-बालाएँ अपना सतीत्व गँवा चुकी थीं। केवल पृथिवीराज राठौर की धर्मपत्नी ने ही अपने असीम साहस और धर्मबल के प्रभाव से इस दारुण शोच्य कलंक से अपने पिता और स्वामी दोनों के कुलों की रक्षा की थी।

इसमें संदेह नहीं कि पृथिवीराज राठौर अकबर के बंदी थे, तथापि निश्चय ही वे अकबर के न तो प्रसाद-प्रयासी थे और न उन्होंने अकबर को कभी सिर ही नवाया था। अकबर के बंदी होने पर भी पृथिवीराज अपनी सर्वांगसुंदरी और गुणवती भार्य्या के पवित्र प्रेमालाप से अपने बुरे दिन भी सुखपूर्वक काटते चलते थे।

एक समय उक्त मेले में अकबर गुप्त वेश से घूम रहा था कि इतने में उसने पृथिवीराज की सुंदरी पत्नी को देखा। उसकी रूप-माधुरी को देखते ही अकबर की पैशाचिक कुप्रवृत्ति

उत्तेजित हुई और वहाँ से वह सीधा अपने विश्रामभवन में चला गया। टाड साहब कहते हैं कि अकबर की इस घृणित नारकीय पापवासना के उत्तेजित होने के दो मुख्य कारण हैं। एक तो अपनी पैशाची कामलालसा को तृप्त करना, दूसरा कारण यह कि शिशोदिया वंश को कलंकित करना। अस्तु।

जब वह राजपूत बाला मेले से लौटकर अपने घर जाने लगी, तब उसने देखा कि बाहर जाने के सब द्वार बंद हैं। तब तो वह अत्यंत विस्मित हुई। धीरे धीरे उसके मन में अनेक प्रकार के संदेह उत्पन्न होने लगे। इतने में एक ओर का द्वार खुला। उससे दिल्लीश्वर अकबर धीरे धीरे आता हुआ दिखाई पड़ा। वह कामोन्मत्त भाव से दोनों बाँहें फैलाए हुए था। इस भाव भंगी से अकबर इस वीर बाला के सामने खड़ा हो, अनेक प्रकार की अनुचित बातें कहकर लोभ दिखाने लगा।

उस नरपिशाच की बातें सुन सती का सारा शरीर मारे क्रोध के थर थर काँपने लगा। तुरंत ही उसने अपनी कुर्ती के भीतर से छुरी निकाल उसकी नोक अकबर की छाती पर लगाई और कड़ककर कहा—

वीर बाला—ईश्वर की शपथ खाकर कह कि आज से कभी किसी राजपूत कुल पर धब्बा लगाने की इच्छा न करूँगा। जल्दी शपथ खा, नहीं तो यह तीक्ष्ण छुरी अभी तेरी छाती के लहू से लाल होकर उस पार होती है।

राजपूत बाला का यह अद्भुत साहस देखकर अकबर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। मारे डर के उसके होश हवास जाते रहे। इसकी वह पापवासना न मालूम कहाँ चली गई। उसके पाप-पूरित अंधकारमय हृदय में ज्ञान का प्रकाश हुआ। उसने तत्त्वण ही उस वीरबाला की आज्ञा का पालन किया।

मेवाड़ के भट्ट ग्रंथों में तो यहाँ तक लिखा है कि उस समय मेवाड़ की अधिष्ठात्री देवी माताजी अकबर के उस विलासभवन की कुंज में प्रकट हुई थीं। उन्हीं ने इस वीर बाला के पातिव्रत धर्म की रत्ता के लिये उसके हृदय में साहस और हाथ में छुरी प्रदान की थी। जो हो, इस वीर बाला ने अपना सतीत्व तो बचाया ही, पर साथ ही उस दिन से अन्यान्य राजपूत बालाओं के सतीत्व की भी रत्ता हुई।

राजसिंह

प्रताप के मरने के कुछ ही दिनों बाद दिल्ली के तख्त पर भी हेर फेर हुआ। अकबर की मृत्यु हुई। मेवाड़ की गद्दी पर अमरसिंह बैठे और दिल्ली के तख्त ताऊस पर जहाँगीर बैठा। इस हेर फेर से मेवाड़ की स्वाधीनता में भी हेर फेर हुआ। य; हेर फेर ऐसा हुआ, जैसा प्रताप मरते समय कह गए थे। अमरसिंह को दिल्ली के तख्त की वश्यता स्वीकार करनी पड़ी। अमरसिंह के बाद महाराणा कर्ण हुए। इनके शासनकाल में भी कोई नई बात न हुई। जहाँगीर के बाद दिल्ली के तख्त पर शाहजहाँ बैठा। इधर कर्ण की मृत्यु के बाद जगत्सिंह मेवाड़ाधीश हुए। इनके शासन-काल में दिल्ली के अधीश्वर से और इनसे सद्भाव बना रहा। अत: इनका शासन-काल शांतिमय बीता। इन्होंने शाहजहाँ के कहने से चित्तौर का जीर्णोद्धार किया। जगत्सिंह ने मारवाड़ के राजा की लड़की के साथ विवाह किया था। उस मारवाड़-राजकुमारी. के गर्भ और जगत्सिंह के औरस से दो पुत्र उत्पन्न हुए। इन दोनों में राजसिंह सब से बड़े थे। जगत्सिंह के परलोकवासी होने पर राजसिंह ही मेवाड़ के राजसिंहासन पर बैठे।

राजसिंह ने बाल्यकाल ही से वहाँ के कवियों के मुख से बाप्पा रावल, प्रताप आदि की अतुलित कीर्ति सुनी थी, अत:

कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होने पर उन्होंने उन्हीं को अपना आदर्श बनाया। उनको मुसलमानों की वश्यता लड़कपन ही से खटकती थी। अतः उनके राजसिंहासन पर बैठते ही मेवाड़ की शांति में फिर विघ्न उपस्थित हुआ।

उधर शाहजहाँ को वृद्ध देख उसके चारों लड़के तख्त ताऊस पर बैठने के लिये आपस में झगड़ने लगे। अंत में जीत औरंगजेब की हुई और वह अपने बाप को कैद कर तख्त पर बैठा। यह औरंगजेब कैसा नीच और हिंदू-द्वेषी था, इस बात को इतिहास पढ़नेवाले भली भाँति जानते ही होंगे। जो शांति भारतवर्ष में अकबर के समय से विराजमान थी, उसे इस तास्सुबी औरंगजेब ने अपने पक्षपातपूर्ण व्यवहार और दीनी दुराग्रह से नष्ट कर डाला। अनेकों मंदिरों के ढहाने और मूर्तियों को खंड खंड करने से हिंदुओं के चित्त में मुसलमानों के प्रति घृणा और क्रोध उत्पन्न हुआ। टाड साहब कहते हैं कि मुगल-कुलांगार पाखंडी औरंगजेब के कठोर अत्याचार से संपूर्ण राज्य में अराजकता फैल गई। उन अत्याचारों को न सहकर हिंदू प्रजा भागने लगी। जो हिंदू न भाग सकते, वे अपनी हत्या आप कर मर जाते। सैकड़ों नगर और बाजार सूने हो गए। वाणिज्य ऐसा बंद हुआ कि किसानों के न रहने से राजकर्मचारी सरकारी मालगुजारी तक न वसूल कर सके। तब राज्य की आमदनी बंद होते देख औरंगजेब ने हिंदू प्रजा पर मुंडकर (जजिया) लगाने का विचार किया। इस

भयंकर अत्याचार की सूचना मिलते ही भारतवर्ष भर में हाहाकार मच गया, पर औरंगजेब के हृदय में तब भी दया का संचार न हुआ।

विख्यात आर्मी ने अपने लिखे वृत्तांत में लिखा है कि जिस उग्र चिंता के हाथ से छुटकारा पाने के लिये औरंगजेब ने पैशाचिक कार्य किए थे, उसकी वह चिंता तो न छूटी, किंतु वह प्रबल रूप धारण कर उसी को ग्रास करने के लिये उद्यत हुई। वह स्थिर न रह सका। जिस समय रात्रि दो पहर बीतती और संसार सुखपूर्वक निद्रा देवी की गोद में सोता, उस समय औरंगजेब को उसके अत्याचार मूर्ति धारण कर दिखाई पड़ते थे। उसको अपने पिता, भ्राताओं और पुत्रों के मर्मभेदी शब्द सुन पड़ते थे। मानों वे उससे कहते थे—"रे पापी! हमें मारकर क्या तू निश्चिंत रहकर राज्य कर सकता है? देख दुराचारी, तेरे मस्तक पर गिरने को यमराज का भयंकर दंड तैयार हो रहा है!" उसी समय औरंगजेब विकल हो अपने पलंग से उठना चाहता था, पर उससे उठा नहीं जाता था।

औरंगजेब के अत्याचारों की कथा राजसिंह के कानों तक पहुँची। मुसलमानों के विरुद्ध राजसिंह के खड्ग-धारण का यह भी एक कारण था। दूसरा कारण एक और भी था, जिसका संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है।

मारवाड़ के राठौर राजकुल कई नवीन नौ भागों में विभक्त हैं। इनमें से एक भाग के कितने एक राजकुमार अपने प्राचीन

राज्य को छोड़कर रूपनगर में आ बसे थे। रूपनगर मुगलों के राज्य में था; अतः वहाँ वे राठौर लोग मुगलों की अधीनता में साधारण सामंत रूप से रहने लगे थे। उस समय रूप-नगर के सामंत राजा के घर में प्रभावती नामवाली एक कन्या थी, जो बड़ी रूपवती थी। उसके रूपवती होने की ख्याति औरंगजेब के कानों तक पहुँची। वह दुष्ट उसको पाने के यत्न में लगा। अंत में निरुपाय हो उसने प्रभावती के साथ विवाह करने का प्रस्ताव किया। उसने अपने मन में विचारा कि प्रभावती जब मेरा यह प्रस्ताव सुनेगी, तब वह इतने विपुल साम्राज्य की अधीश्वरी होने की लालसा से उसे सहर्ष स्वीकार करती हुई अपना अहोभाग्य समझेगी। पर औरंग-जेब ने जो अनुमान किया था, उसके सर्वथा प्रतिकूल कार्य हुआ। उसने प्रभावती के पिता के पास यह प्रस्ताव लिख कर भेजा।

राजकुमारी प्रभावती महलों से अलग एकांत स्थान में रहती और पूजापाठ में अपना सारा समय बिताया करती थी। ईश्वर में इस राजकुमारी की इतनी दृढ़ आस्था थी कि वह अपने विवाह का कभी स्वप्न में भी विचार नहीं करती थी। अपने घर में तो वह पुरुष की छाया तक नहीं आने देती। वह न तो किसी को अपने यहाँ बुलाती थी और न किसी के घर स्वयं जाती थी। यदि उसे कोई छू लेता तो वैष्णव धर्म की मर्य्यादा के अनुसार वह उसी समय स्नान करती थी। यह राज-

कुमारी ऐसी पवित्र वृत्ति से रहती था। पर इसके अत्यंत रूपवती होने के कारण ही औरंगजेब ने उसके साथ विवाह करना चाहा था।

जब इस बात की चर्चा सर्वत्र फैल गई, तब एक दिन राज-महल की दासियों ने कूएँ पर जल भरते समय प्रभावती की दासी से पूछा—"बहिन! क्या तू भी अपनी बाई के साथ दिल्ली जायगी?" इस प्रश्न का उस दासी ने राजमहल की दासियों को कुछ भी उत्तर न दिया और पानी लेकर चली गई। प्रभावती के पास जाकर उसने जो जो बातें सुनी थीं, वे सब उससे कहीं। सब बातें सुन प्रभावती बहुत चिंतित हुई और सोचने लगी कि अब मुझे क्या करना उचित है। अपने रूप को धिक्कारती हुई राजकुमारी मन ही मन भगवान् से प्रार्थना कर आध्यात्मिक बल संचित करने लगी। उसने कहा—

प्रभावती—हे दीनों के नाथ! अब मेरी लाज आप ही के हाथ है। मेरी भलाई का मार्ग अब आप ही सुझाइए। मैं इन अस्पृश्य अधम तुर्कों के साथ कभी विवाह न करूँगी। जब तक इस शरीर में प्राण हैं, तब तक यह दासी कभी किसी तुर्क की अंकशायिनी नहीं होगी। अब उस दुष्ट औरंगजेब के यहाँ आने के केवल १५ दिन रह गए हैं, अतः कोई ऐसा उपाय कीजिए, जिससे मेरी यह विपत्ति शीघ्र ही दूर हो।

तदनंतर राजकुमारी ने अपने काका को बुलाया और उनसे कहा—

प्रभावती—काकाजी! जिस भय से मैं संसार से मुख मोड़ एकांत-वास करती हूँ और पर-पुरुष का मुख तक नहीं देखती, सुनती हूँ, वही भय मेरे सामने उपस्थित होनेवाला है। मैंने सुना है कि शीघ्र ही यवनाधम औरंगजेब मेरे साथ विवाह करने को आनेवाला है। मैंने यह बात आज ही सुनी है। इस समय मुझे अपनी रक्षा का एक भी उपाय नहीं सूझ पड़ता। मैं तो म्लेच्छ का मुख तक देखना नहीं चाहती। अत: मैं अपने प्राण त्यागना अच्छा समझती हूँ, पर म्लेच्छ के साथ विवाह न करूँगी।

यह सुन प्रभावती के काका ने उससे कहा—

काका—मेरी समझ में दो बातें आती हैं। एक तो यह कि मैं अपनी सेना द्वारा मरते दम तक तेरी रक्षा करूँ। पर मेरी सेना बादशाही लश्कर के सामने वैसे ही है जैसे समुद्र के लिये जल की एक बूँद। अत: अंत में हमारा नाश अवश्य होगा। पर तेरे धर्म की रक्षा करते हुए प्राण देने से मैं अत्यंत संतुष्ट हो सकूँगा। किंतु डर यह है कि मेरे पीछे तेरी प्रतिष्ठा की रक्षा कैसे होगी। दूसरा उपाय यह है कि तू अपना विवाह उदयपुराधीश महाराणा राजसिंह से कर ले। यदि तू मेरी यह बात माने और राजसिंह बरात सजाकर आवें, तो तेरा काम बन जाय! भारतवर्ष भर में राजसिंह को छोड़ और कोई नहीं है जो दिल्लीश्वर के साथ वैर बाँधे और शरणागत

की रक्षा करे। अतः यदि तू कहे तो आज ही साँड़नी-सवार के हाथ उदयपुर चिट्ठी भेजूँ।

प्रभावती—काकाजी ! उदयपुर के महाराणा के साथ ब्याह करने की मनाही मैं कैसे कर सकती हूँ। उनसे बढ़कर पवित्र राजपूत वंश इस संसार में दूसरा नहीं है। यदि उनके साथ विवाह करने में मुझे संकोच हो तो मुझसे बढ़कर मूर्खा और कौन होगी। मैं स्वधर्म-रक्षा और आत्मघात के पाप से बचने के लिये सहर्ष महाराणा के साथ विवाह करने को प्रस्तुत हूँ। आप एक पत्र लिखें; और मैं भी उनको एक पत्र लिखती हूँ।

इसके बाद दोनों ने राजसिंह को पत्र लिखे। फिर एक दिन में उदयपुर पहुँचनेवाली साँड़नी पर सवार करा एक आदमी उन पत्रों को देकर भेजा गया। दूसरे दिन वह मनुष्य उदयपुर पहुँचा और सीधा राणाजी की राजसभा में चला गया।

उस समय महाराणा अपने जागीरदार चूड़ावत, शक्तावत, राणावत, दूदावत, झाला, परमार, हाड़ा, राठौर आदि शूर सामंतों के साथ राजसभा में विराजमान थे। उस दूत ने दोनों पत्र निकालकर महाराणाजी के हाथ में दिए। राजसिंह ने उन दोनों पत्रों को साद्यंत पढ़ा और पढ़कर अपना कर्त्तव्य निश्चित करने लगे। राजसिंह को चिंता में निमग्न देख समीप बैठे चूड़ावत सरदार ने पूछा—"महाराज! बात

क्या है ? पत्र पढ़कर आप चुप क्यों हो गए ?" इन प्रश्नों के उत्तर में महाराणा ने कहा तो कुछ नहीं, पर वे दोनों पत्र चूड़ावत के हाथ में दे दिए। इस पर चूड़ावत ने पूछा—"क्या मुझे इन पत्रों के पढ़ने की श्रीमान् आज्ञा देते हैं ?" तब राज-सिंह ने कहा—"इन पत्रों में ऐसी कोई गुप्त बात नहीं है, जिसका आप लोगों से छिपाव हो। आप इन दोनों को ऐसे पढ़ें जिससे सब लोग इनमें लिखी बातों को सुन सकें।" तद-नंतर चूड़ावत ने दोनों पत्र पढ़कर सुनाए।

पत्र पढ़ चुकने पर चूड़ावत ने कहा—

चूड़ावत—महाराणा साहब! अब विचार करने की क्या आवश्यकता है? वह बेचारी अबला आपको मनोनीत कर चुकी है। यदि अब आप उसकी रक्षा न करेंगे तथा उसके साथ विवाह न करेंगे, तो क्या उसे आप म्लेच्छ से पकड़वा देंगे? क्या संसार से क्षत्रिय धर्म का एक साथ ही लोप हो जायगा? जो कन्या आपको वर चुकी है, उसे क्या म्लेच्छ ब्याह ले जायगा और वह हिंदूपति की प्रतिष्ठा छीन लेगा? मेवाड़ ने अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के निमित्त हमारे पूर्व-पुरुषों और हमारी माताओं के लाखों सुपुत्र भोगे हैं, तो क्या उसी मेवाड़ का अधीश्वर अपनी रानी को म्लेच्छ के हाथ में चली जाने देगा? क्या उस शरणा-गता अबला को महाराणा आत्मघात करने का अवसर देंगे? जो मेवाड़पति शरणागत की रक्षा करने और

प्रतिष्ठा बचाने के लिये, लाखों क्षत्रियों का बलिदान दे चुका, प्राण गँवा चुका और वन वन भटक चुका, उसी मेवाड़पति का वंशधर क्या आज शरण आई हुई एक अबला, नहीं नहीं, अपनी जाति की एक लड़की को जान बूझकर एक म्लेच्छ को सौंप देगा? क्या क्षत्रियाणी अब वीर क्षत्रिय बालकों का जनना छोड़ कायर पुत्र जनने लगीं? क्या मेवाड़पति होकर महाराणा बादशाह से डरेंगे या जंगलों में भटकने से डरेंगे? या आज मेवाड़ाधीश को महल में छिपना पड़ेगा?

महाराज! आपको इन पत्रों के सीधे सादे उत्तर देने में किस बात का संकोच हो रहा है? मनुष्य मात्र एक न एक दिन मरेंगे। क्या हमारे बाप दादे नहीं मरे? क्या हम अमर होकर आए हैं? जब यह शरीर नाशवान् ठहरा, तो यह तो अवश्य नष्ट होगा, चाहे घर के भीतर हो या रणक्षेत्र में। जब एक दिन मरना ही है, तब प्रतिष्ठा खोकर क्यों मरा जाय? क्षत्रिय के लिये तो सब से बढ़िया मरने का स्थान रणक्षेत्र में है, जहाँ मरकर वह सीधा स्वर्ग में जाता है।

राजसिंह—वीर चूड़ावत! उतावले होकर अविचारपूर्वक मत बोलो। मैं उस राठौरनी को ब्याहने से मुख नहीं मोड़ता। मेरे पूर्वपुरुष जैसे मरे, वैसे ही मुझे भी एक दिन अवश्य मरना है। महाराणा हम्मीर, साँगाजी,

कुम्भाजी तथा प्रतापसिंहजी की भाँति मरने की मेरी भी अभिलाषा है। परंतु आप और मैं दोनों ही युवक हैं। अभी संसार का अनुभव बहुत थोड़ा है। पीछे कहीं लोग यह न कहें कि राजसिंह ने लड़क खेल कर मेवाड़ का राज्य गँवा दिया। बादशाह से तकरार कर राज्य खो दिया, उसका बढ़ाना तो एक ओर रहा। अतः इस विषय पर किसी वृद्ध की सम्मति लेनी चाहिए।

चूड़ावत—महाराज! आपका कथन यथार्थ है, पर हमारे पूर्व-पुरुष जब किसी विषय पर सम्मति लेते थे तो राज-कवि की लिया करते थे। सो यदि आपकी इच्छा हो तो, वे वृद्ध, अनुभवी बुद्धिमान् महानुभाव बुलाए जायँ।

इस पर महाराणा ने उन लोगों को बुलाकर दोनों पत्र उन्हें दिए और उनसे प्रश्न किया—"ऐसी अवस्था में हमें क्या करना उचित है?"

इस पर राजकवि ने सोच विचार कर कहा—

राजकवि—महाराणाजी! आप युवा हैं तो क्या हुआ, पर आप अपने घराने की रीति से भली भाँति परिचित हैं। जान बूझकर हँसी करने को मुझसे क्यों पूछते हैं? आपके वंश में आज तक किसी ने "नकार" तो कहा ही नहीं। बाप्पा रावल के वंशज भले ही विपत्ति में फँस जायँ, पर मुख से "न" नहीं निकालते। अपनी राजगद्दी के गौरव और प्रताप के नाम की प्रतिष्ठा को स्मरण कर आप अपने कर्त्तव्य

पर दृढ़ रहें। कर्त्तव्यपालन ही से पृथिवी थमी है, सूर्य प्रकाशमान है, गङ्गा बहती है और आग जलती है। यदि राणा साँगा का वंशज शरणागत को विमुख लौटा देगा तो पृथिवी रसातल को चली जायगी, सूर्य पश्चिम में उदय होगा, ब्रह्मांड नष्ट हो जायगा और आकाश पाताल एक हो जायँगे। जो तुर्कों को कन्या न देने की प्रतिज्ञा कर चुके और अपनी इस प्रतिज्ञा को पूरी रखने के लिये, जो सैकड़ों सहस्रों शिशोदिया-वंशज कटा गए, जो अपने नेत्रों के सामने अपने पुत्रों को रणक्षेत्र में कटा गए और जो वन वन, पहाड़ पहाड़ टकराते फिरे, पर मुसलमानों को जिन्होंने कभी अपनी कन्या न दी उन्हीं प्रतापसिंहजी के वंशज अपने को अंतःकरण से वरनेवाली कन्या को उन्हीं देश-शत्रु और धर्म-शत्रु मुसलमानों के हाथ में जाने दें—ऐसा होना क्या कभी संभव है ? मैं वृद्ध हूँ, मेरे शरीर में बल नहीं रहा है, इससे कदाचित् आपने सोचा होगा कि मैं आपको इसमें कायरपन की कोई सम्मति दूँगा। पर ऐसा आप स्वप्न में भी न विचारिएगा; क्योंकि बूढ़े होने ही से क्या, मेरी रगों में अब भी साँगाजी, प्रतापसिंह और कुंभाजी की राजगद्दी के अन्न का लहू बह रहा है। मैं देखने में बूढ़ा हूँ, पर मेरा आत्मा तो बूढ़ा नहीं है। वह तो युवा है। अतः वृथा समय न खोइए। रूप-नगर के हरकारे को बिदा कीजिए और युद्ध की तैयारी करके

राजकन्या ब्याह लाइए। क्या राजहंसिनी राजहंस को छोड़ बगुले के साथ जा सकती है? अतः उठिए, तैयार होइए और बरात सजाकर राजकन्या को ब्याह लाइए। विलंब करने में मंगल नहीं होगा।

यह सुन राजसिंह ने चूड़ावतजी की ओर लक्ष्य करके कहा—

राजसिंह—राजकवि ने जो कहा, सो ठीक है। हमको अपनी प्रतिष्ठा के लिये अवश्य जाना चाहिए, परंतु एक विघ्न दिखाई दे रहा है। उसका क्या उपाय करना उचित है? हम अपनी सेना सजाकर राठौर-कुमारी को ब्याहने जायँगे और इतने में औरंगजेब अपना लश्कर लेकर आ जायगा और घोर युद्ध होने लगेगा। यदि उस समय बादशाह की सेना के साथ युद्ध कर हम सब खप गए, तो हमारा मनोरथ क्योंकर पूर्ण होने पावेगा, और प्रभावती को आत्म-घात करना पड़ेगा। इसका क्या प्रबंध हो?

चूड़ावत—महाराज! मेरा विचार आपसे भिन्न है। आप तो थोड़े से राजपूत लेकर राठौरनी ब्याहने रूपनगर जायँ और मैं समस्त शिशोदिया वीरों को लेकर बादशाह का मार्ग रुद्ध करने के लिये, रूपनगर से आगे जाता हूँ और आगरा व रूपनगर के बीच की राह रोककर बैठूँगा। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब तक आप ब्याह कर उदयपुर न लौट आवेंगे, तब तक मैं औरंगजेब को रूपनगर का द्वार न देखने दूँगा।

राजसिंह—यदि ऐसा हुआ तब तो कहना ही क्या ! मेरे प्यारे वीर ! तुम्हारी वीरता और बुद्धिमानी को धन्य है। तुमने जो उपाय बतलाया है, वह ठीक है। उसके अनुसार कार्य का सिद्ध होना एकलिंगजी के हाथ में है।

चूड़ावत की बुद्धिमानी की प्रशंसा वृद्ध राजकवि और उपस्थित अन्यान्य सामंतों ने भी की और उन सब ने अपनी अपनी सेनाओं को सजाकर बादशाह का मार्ग रोकने के लिये जाना निश्चित किया। महाराणा ने रूपनगर के हरकारे को पत्रोत्तर देकर बिदा किया। चूड़ावत अपने घर गए और वहाँ जाकर लड़ाई का डंका बजवाया, जिसे सुनकर सब चूड़ावत वीर सावधान हो गए।

अगले दिन चूड़ावत युद्धस्थल में जाने को तैयार थे कि उन्होंने झरोखे में उझकती हुई अपनी रानी को देखा। चूड़ावत सरदार की अवस्था इस समय अठारह वर्ष से अधिक न थी; और इस घटना के कुछ ही दिनों पहले इनका विवाह हुआ था। यहाँ तक कि अभी लों विवाह का कंगन भी नहीं खुला था। इनकी रानी की अवस्था भी केवल सोलह ही वर्ष की थी और वह बड़ी रूपवती एवं सुशीला थी। अपनी रानी को देखते ही चूड़ावत की युद्ध की उमंग मंद पड़ गई और उनके मुखमंडल का भाव सहसा बदल गया। वे उसी भाव को मुखमंडल पर धारण किए हुए अपने महल की अटारी पर गए। यद्यपि उनकी रानी की केवल सोलह ही वर्ष की

इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करके चूड़ावत सरदार चलने ही को थे कि रानी फिर कहने लगी—

रानी—महाराज ! विजयी होकर शीघ्र लौटिएगा। आप अपने कुल-धर्म को स्मरण करते हुए केवल शत्रु का नाश करने ही के उपाय सोचने में मन लगाइए; अपने मन को और कहीं न जाने दीजिए।

चूड़ावत सरदार—रानी! रणक्षेत्र से जीते जागते लौटने की आशा नहीं। मरना तो निश्चित है ही, साथ ही शत्रु को पीठ दिखाकर न लौटना भी ध्रुव है। इससे हमारी तुम्हारी यह अंतिम भेंट है। तुम स्वयं समझदार हो, इसलिये तुम अपने घर की लाज रखना; और यदि हम रणक्षेत्र में मारे जायँ तो तुम अपने धर्म की स्वयं रक्षा करना।

रानी—महाराज ! आप मेरी ओर से निश्चिंत रहें। आप अपना कर्त्तव्यपालन करें; मैं अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं होऊँगी। मेरी इस प्रतिज्ञा को पत्थर की अमिट लकीर समझिए।

रानी के इस प्रकार विश्वास दिलाने पर भी सरदार को संतोष न हुआ। उसके मन में यह संदेह बना ही रहा कि न जाने रानी मेरे पीछे सती होगी कि नहीं। चूड़ावत अपनी रानी को समझाकर नीचे उतरने लगे, पर सीढ़ियों पर खड़े होकर उन्होंने फिर रानी से कहा—

चूड़ावत—हम जाते हैं, तुम अपना धर्म मत भूल जाना।

तदनंतर चूड़ावत चौक में पहुँचे और लड़ाई का धौंसा बजवाकर प्रस्थान करने लगे। उस समय चूड़ावत ने अपने एक नौकर को रानी के पास भेजकर कहलाया कि रानीजी से कह दो कि वे अपना कर्त्तव्य न भूल जायँ। तब रानी को निश्चय हो गया कि मेरे पति का मन मुझमें लगा है; और जब तक उनको मेरी ओर से चिंता बनी रहेगी, तब तक वे कभी मन खोलकर शत्रु का संहार न कर सकेंगे। यह विचार कर कर्त्तव्यपरायण रानी ने उस सेवक से कहा—"मैं तुझे अपना सीस काटकर देती हूँ। इसे ले जाकर तू अपने स्वामी को देना और कहना कि रानीजी पहले ही सती हो गईं; और उन्होंने आपके लिये यह भेंट भेजी है। इस भेंट को लेकर आप सहर्ष रणक्षेत्र में जाइए और शत्रु को जीतकर अपना मनोरथ सफल कीजिए!"

अब रानी ने झट तलवार से अपना सीस काट डाला। उस कटे सीस को लेकर नौकर चूड़ावत के पास गया और उन्हें रानी का वह सिर सौंपकर उनका संदेशा उन्हें सुनाया। रानी की यह भेंट पाकर चूड़ावत आनंद में मग्न हो गए। घर की चिंता से छुटकारा पा अब वे शत्रु के नाश की चिंता करने लगे। क्रोध में भरकर वे रणक्षेत्र की ओर अग्रसर हुए। उनके पीछे उनके समस्त चूड़ावत वीर भी हो लिए।

उधर राणाजी प्रात:काल के कृत्यों से निश्चिंत हो घोड़े पर सवार हुए। उनके साथ साथ पंद्रह सौ अश्वारोही सैनिक चले।

आगे चलकर महाराणा की चूड़ावत सरदार से भेंट हुई। दोनों वीर उत्साह में भरे घोड़े बढ़ाते चलने लगे। कुछ दूर साथ साथ चलने पर दो मार्ग मिले। वहाँ से दोनों ने अपना अपना मार्ग पकड़ा। महाराणा तो सीधे रूपनगर की ओर गए और चूड़ावत सामंत पूर्व की ओरवाले मार्ग को घेरकर आगे बढ़ते चले गए।

चूड़ावत के अधीन सब मिलाकर पचास हजार सैनिक थे। उन सबके आगे चूड़ावतजी स्वयं चलते थे। बहुत दूर निकल जाने पर वे एक निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचे। यह स्थान रूपनगर से कुछ दूरी पर आगरेवाली सड़क पर था। इसी स्थान पर चूड़ावत सामंत छावनी डालकर ससैन्य ठहर गए। छावनी डालकर उन्होंने कुछ जासूसों को बादशाही लश्कर की खोज लेने को भेजा। जासूसों ने लौटकर संवाद दिया कि औरंगजेब हाथी पर चढ़कर आ रहा है और उसके साथ एक बड़ी भारी सेना है।

यह संवाद सुनते ही सरदार ने अपने सैनिकों को घोड़ों पर सवार होने की आज्ञा दी। बात की बात में सब सैनिक बादशाही सेना से भिड़ने को कमर कसकर खड़े हो गए। इतने में बादशाही लश्कर भी आ पहुँचा। मार्ग को रोककर एक दूसरे दल को खड़े देख, औरंगजेब ने उनका नाम धाम पुछवाया और साथ ही मार्ग रोककर खड़े होने का कारण पूछा। तब उसे विदित हुआ कि मेवाड़ के वीर चूड़ावत सर-

दार अपनी सेना लिए खड़े हैं। औरंगजेब ने उनसे मार्ग देने के लिये कहलाया और यह भी कहलाया कि हम लड़ने नहीं आए हैं। हम उदयपुर नहीं जा रहे हैं। इस पर सरदार ने औरंगजेब से कहला भेजा कि हम क्षत्रिय हैं, तुमसे हम डरते नहीं। तुमको अगर आगे जाना है तो हमको भेदकर निकल जाओ। वैसे तो तुम यहाँ से आगे एक कदम भी नहीं जाने पाओगे। तब बादशाह ने कहला भेजा कि तुम व्यर्थ हमारे काम में क्यों बाधा डालते हो? हम तो तुम्हें किसी प्रकार की हानि पहुँचाए बिना ही मार्ग माँगते हैं। पतंग की भाँति दीपक में वृथा तुम क्यों गिरते हो? अपने हजारों शूरवीर राजपूतों को क्यों व्यर्थ कटवाते हो?

पर इस धमकी से तो चूड़ावत सरदार डरनेवाले न थे। अत: जब किसी प्रकार चूड़ावत ने न माना, तब उनको हटाकर आगे बढ़ने की आज्ञा औरंगजेब ने अपने लश्कर को दी। आज्ञा पाते ही बादशाही सेना राजपूतों से भिड़ गई। राजपूत पहले ही से तैयार थे। अत: संध्या तक दोनों दलों में घमासान युद्ध होता रहा। पर हार जीत एक भी ओर की न हुई। राजपूत वीर बड़ी मुस्तैदी से राह रोके डटे रहे और आक्रमणकारी मुसलमानों को काटते रहे। हिलोर* में जो राजपूत सैनिक मारे जाते, उनकी सूनी जगह में तुरंत दूसरे राजपूत जा डटते थे। इस प्रकार लड़ते लड़ते संध्या हो गई। अँधेरा छा जाने पर दोनों ओर से युद्ध बंद कर दिया गया।

---

* सेना के आगे की पंक्ति को हिलोर कहते हैं।

अगले दिन सबेरा होने पर बादशाह ने फिर कहला भेजा कि तुम व्यर्थ क्यों राह रोक रहे हो ? अब तुम राह छोड़कर एक ओर हो जाओ; पर सरदार तिल भर भी पीछे न हटे और रास्ता न छोड़ा। अतः फिर युद्ध आरंभ हुआ। दूसरे दिन भी सूर्य्यास्त होने तक दोनों दलों में तुमुल युद्ध होता रहा। दोनों ओर के सहस्रों वीर खेत रहे। पर उत्साह किसी ओर भी न घटा। विवाह की साइत टलती देख बादशाह की ओर से बड़े वेग से आक्रमण हुआ। उधर राजपूत भी महाराणा को इतना समय देने के लिये—जितने में वे प्रभावती के साथ विवाह करके सकुशल उदयपुर लौट जायँ—प्राणपण से मुसलमानों का मार्ग रोकने लगे। अतः दूसरे दिन भी किसी ओर की पराजय न हुई। सूर्य्यास्त होने पर आज भी युद्ध समाप्त कर दिया गया। तीसरे दिन सूर्य्योदय के पहले ही युद्ध की तैयारियाँ आरंभ हो गईं। आज के युद्ध में बहुत से राजपूत मारे गए। राजपूतों की संख्या दिन दिन घटने लगी। यद्यपि मुसलमान सैनिक राजपूतों की संख्या से दुगुने तिगुने मारे गए थे, पर उस असंख्य सैन्य दल में उतने सैनिकों के मारे जाने से बादशाही लश्कर की कुछ भी हानि नहीं हुई। पर राजपूतों की ओर बड़ी हानि हुई। चूड़ावत सरदार ने विचारा कि यदि अब की बार कहीं मुसलमानों ने घोर आक्रमण किया, तो इन बचे हुए थोड़े से राजपूतों को भेदकर बादशाही लश्कर निकल जायगा। इस विचार के मन में उदय

होते ही उन्हें अपना वह वचन भी स्मरण हो आया, जो उन्होंने राजसिंह को दिया था। इसलिये आवेश में भर उन्होंने घोर युद्ध किया, और बड़ी वीरता से लड़ते लड़ते औरंगजेब के हाथी के पास पहुँच बादशाह पर अपना भाला ताना। उस समय औरंगजेब ने विनयपूर्वक कहा—"नाहक क्यों मारते हो, विवाह की सायत तो यहीं पूरी हुई जाती है।" इस पर सरदार ने कहा—"अच्छा! मैं जो कहूँ सो कुरान की शपथ खाकर करो; नहीं तो मेरा भाला अभी तुम्हारे शरीर में घुसा ही चाहता है।" औरंगजेब ने प्राणों को संकट में देखकर शपथ खाई और सरदार के कथनानुसार उदयपुर पर दस वर्ष तक चढ़ाई न करने की प्रतिज्ञा की। बस फिर क्या था। चूड़ावत ने अपने घोड़े की बागडोर मोड़ी। इस बीच में उनके शरीर में इतने घाव लगे कि वे अपने घोड़े पर न बैठ सके और प्रतिज्ञा पूर्ण करने के आनंद में घोड़े से उतरते उतरते सुरपुर के यात्री बने। उस दिन चैत्र की पूर्णिमा थी और वहाँ से रूपनगर तीन दिन का मार्ग था।

वीर चूड़ावत सरदार मरते मरते और अपनी सारी सेना कटाकर अपना प्रण पूरा कर गए। उनके साथ के पचास हजार राजपूतों में से पाँच हजार राजपूत बचे थे, जो उदय-पुर को लौट गए। चूड़ावत के सुरपुर सिधारने पर औरंग-जेब ने लड़ाई बंद कर दी और बचे हुए राजपूतों को अपने साथियों का क्रिया-कर्म करने की आज्ञा दी। यह आज्ञा

दे और वहाँ अधिक देर तक रुकना उचित न समझ औरंग-जेब रूपनगर की ओर चल पड़ा।

उधर राजसिंह भी ठीक पूर्णिमा के दिन रूपनगर में पहुँचे और प्रभावती के साथ विवाह कर प्रतिपदा को वहाँ से बिदा हुए और सकुशल अपनी राजधानी में पहुँच गए। वहाँ पहुँच-कर युद्ध से लौटे हुए सैनिकों से युद्ध का सारा वृत्तांत सुना।

भग्न-मनोरथ औरंगजेब रूपनगर से लौटा और क्रोध में भरने पर भी, प्रतिज्ञा कर चुकने के कारण, उदयपुर की ओर न जाकर अपनी राजधानी को लौट गया।

इस घटना के कुछ काल बाद फिर एक ऐसी घटना हुई जिसके कारण राजसिंह को औरंगजेब के सताए हुए कतिपय सजातीय लोगों को अपनी रक्षा में ले लेने के कारण दिल्लीश्वर का विरागभाजन बनना पड़ा। यह घटना भी बड़े मार्के की है और राजसिंह तथा औरंगजेब से इस घटना का पूर्ण संबंध है। अतः इसका वर्णन करके राजसिंह और औरंगजेब के इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध का वर्णन किया जायगा।

औरंगजेब ने अपनी शक्ति भर हिंदुओं को कष्ट देने और उनका धर्म नष्ट भ्रष्ट करने की जो प्रतिज्ञा की थी, उसके पूर्ण-तया कार्य्य रूप में परिणत न हो सकने के दो वीर राजपूत मुख्य कारण थे। इन दो में से एक तो थे जयपुर के राजा जयसिंह और दूसरे थे मारवाड़ के राजा जसवंतसिंह। ये दोनों औरंगजेब के वेतनभोगी होने पर भी, अपने वंशोचित

क्षात्र धर्म से च्युत नहीं हुए थे। प्रत्युत ये दोनों बड़े तेजस्वी राजपूत थे। अतः औरंगजेब बहुत चाहता था कि मैं इन दोनों की शक्ति अपहृत करके इन दोनों को अपने हाथ की गुड़िया बना लूँ। पर वह उन्हें वैसा न बना सका। औरंगजेब जब कोई अनुचित प्रस्ताव करता, तब ये ही दो वीर जोर शोर से निर्भीक हो उनका खंडन करते थे। विशेषकर इन दोनों के रहते औरंगजेब हिंदुओं पर मनमाना अत्याचार नहीं करने पाता था। यद्यपि ये दोनों मुगल सम्राट् के अधीन थे, तथापि इनके पास सैनिक बल बहुत था। यहाँ तक कि बहुत सी मुगल सेना भी इन्हीं के हाथ के नीचे थी। औरंगजेब के इनसे डरने का यही मुख्य कारण था।

अतः वह इन दोनों की शक्ति को छीन लेने के अनेक उपाय सोचा करता था; पर जब वह अपना कोई उपाय काम में न ला सका, तब उसने ऐसा अधम उपाय सोचा जिसको जान लेने पर प्रत्येक विचारशील के हृदय में औरंगजेब के प्रति घृणा का संचार हो जाता है। वह निंद्य उपाय था—इन दोनों वीर राजपूतों को जान से मरवा डालना।

मारवाड़ के राजा जसवंतसिंह उन दिनों काबुल में थे और अंबराधीश जयसिंह दक्षिण में थे। इन दोनों को उस नीच ने विष दिलवाकर मरवा डाला। इतने पर भी वह दुष्ट शांत न हुआ और उसने जसवंतसिंह के अल्पवयस्क बालकों को भी बंदी बनाकर कालांतर में मरवा डालना चाहा, जिससे

उसके उपकारी का वंश तक लुप्त हो जाय। पर दैवी लीला विचित्र है। इस पापी की दुरभिसंधि को जसवंतसिंह की विधवा और उनके वीर सामंत जान गए। और उस दुष्ट के चंगुल से उन बालकों को निकालने का यत्न करने लगे।

जसवंतसिंह के बड़े पुत्र का नाम था अजित। पर जिस समय जसवंतसिंह विष देकर मार डाले गए, उस समय अजित बहुत छोटा था, किंतु अजित की माता ने अपने मन में निश्चय कर लिया था कि बालक अजित को मारवाड़ की राजगद्दी पर बैठाकर मैं स्वयं राजकाज देखूँ भालूँगी। इसी अभिप्राय से वे अपने पति के साथ सती नहीं हुईं। पर उनकी आशा उनके हृदय में ही रही। उनका हृदय चिंतानल से दग्ध होने लगा। अंत में अन्य उपाय न देख, उन्होंने मेवाड़ाधीश राज-सिंह की शरण में जाने का विचार किया और इस अभिप्राय को प्रकट करने के अर्थ अपना दूत महाराणा की सेवा में भेजा। राजसिंह ने जसवंतसिंह की विधवा की प्रार्थना स्वीकृत की और उन्हें उनके बालकों समेत उदयपुर में बुला भेजा।

बुलावा पाकर बालक अजित अपने दो सहस्र शरीर-रक्षकों को साथ ले मेवाड़ की ओर प्रस्थानित हुए। किंतु ज्योंही ये रक्षकदल अरावली की शैलमाला के दुर्गम दुरारोह पर्वतों को लाँघते हुए कूटगिरि के संकीर्ण मार्ग के निकट पहुँचे, त्योंही पहले से वहाँ छिपे हुए मुगलों के दो सहस्र सैनिक, अजित की सेना को रोककर, अजित को पकड़ने का उद्योग

करने लगे। मुगलों के इस अत्याचार से विरक्त हो राठौर वीर मारे क्रोध के उन्मत्त से हो गए और तलवारों को म्यानों से निकाल मुगलों को मारने लगे। इस संकीर्ण पथ पर बहुत देर तक दोनों दलों में परस्पर युद्ध होता रहा। इस बीच में अजितसिंह अपने कुछ चुने हुए शरीर-रक्षकों सहित सकुशल उदयपुर पहुँच गए। उधर मुगल सेना राठौरों से परास्त हो अजित का पीछा न कर सकी। जिस समय राजकुमार अजित उदयपुर में पहुँचे, उस समय महाराणा ने उनका यथोचित सम्मान किया और उनके रहने का प्रबंध कैलवा में किया। उनकी रक्षा के लिये दुर्गादास नामक एक वीर राजपूत नियुक्त किया गया। इस वीर राजपूत की रक्षा में राजकुमार सानंद कैलवा में दिन व्यतीत करने लगे।

उधर अजित की माता मारवाड़ में पहुँचीं और औरंगजेब के विश्वासघात का बदला लेने का अवसर ढूँढ़ने लगीं। उस वीर नारी के हृदय में क्रोध की ज्वाला भड़क रही थी। उसने राजपूताने के हिंदू नरेशों को एक सूत्र में ग्रथित करने का बड़ा भारी काम अपने हाथ में लिया। इस वीर नारी का परिश्रम विफल न हुआ। मारवाड़, मेवाड़ और अंबर के राजा सहानुभूति के एक सूत्र में बँधकर, मुगल सम्राट् के विरुद्ध युद्ध करने को तत्पर हुए। राजपूतों में इसके पहले ऐसी सुमति कभी नहीं देखी गई थी; पर दुःख की बात है कि यह पारस्परिक बंधन कुछ ही दिनों के बाद शिथिल पड़ गया। होनी

अमिट होती है। यदि होनी अमिट न होती और राजपूताने के तत्कालीन नरपति परस्पर के पुराने वैरों को भूलकर एकता के सूत्र में गुँथे रहते, तो अवश्य ही भारत का राजमुकुट मुसलमानों के मस्तक से उतरकर हिंदुओं के सिर पर स्थापित होता! पर भारत के भाग्य में तो मुसलमानों का दासत्व लिखा था। ऐसा होता तो क्यों? अस्तु।

औरंगजेब ने अपने दो विश्वस्त मुख्य वीर राजपूतों के साथ विश्वासघात किया था। उसके इस कुकर्म की चर्चा भारतवर्ष भर में फैल गई। लोगों ने उसके इस नृशंस कर्म को भले ही धिक्कारा हो, पर वह जो चाहता था, वह पूरा हुआ। उसके मार्ग के दो बड़े कंटक दूर हुए। अब उसे हिंदुओं पर मनमाना अत्याचार करने का अवसर मिला। पर ईश्वरेच्छा से उसके इन अनुचित कार्य्यों में बाधा देने की शक्ति राजसिंह में उत्पन्न हुई। इस शक्ति ने औरंगजेब के कार्य में किस प्रकार बाधा डाली, यह हाल हमारे पाठक आगे चलकर जान सकेंगे।

जब औरंगजेब ने देखा कि सारी बाधाएँ दूर हो गईं, तब उसने हिंदुओं पर मुंडकर (जजिया) फिर जारी किया। इस भारी कर से सारे हिंदू हाहाकार करने लगे। उनका आर्तनाद सुनकर राजसिंह के मन में एक प्रश्न उठा। वे मन ही मन सोचने लगे—"भीष्म, कर्ण, भीम आदि की जन्मभूमि क्या वीर क्षत्रियों से हीन हो गई?" उत्तर मिला—"कभी नहीं,

ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता।" इस उत्तर के मिलते ही उन्होंने मुंडकर के विरुद्ध आंदोलन करना निश्चित किया। उन्होंने एक बड़ा लंबा पत्र उग्र भाषा में लिखा। उस पत्र का अंतिम अंश हम नीचे उद्धृत किए बिना नहीं रह सकते।

राजसिंह के पत्र के अंतिम
अंश का भावानुवाद।

× × × × × ×

राजसिंह ने औरंगजेब के पूर्व-पुरुषों के शासन की बड़ाई कर और अकबर से लेकर शाहजहाँ तक की नीति का उल्लेख कर औरंगजेब को संबोधन कर लिखा था—

"आपके पूर्व-पुरुषों की यह कीर्ति है। उनके विचार ऐसे उदार और महत् थे कि जहाँ उन्होंने चरण रखा, वहाँ विजयलक्ष्मी को हाथ जोड़े अपने सामने पाया और बहुत से देश और द्रव्य को अपने अधिकार में किया। किंतु आपके शासन-काल में वे देश अब आपके अधिकार से निकलते जा रहे हैं; और जो लक्षण दिखलाई पड़ते हैं, उनसे निश्चय होता है कि दिनों दिन आपके राज्य का क्षय ही होता जायगा। कारण आपकी प्रजा आपके अत्याचारों से अत्यंत दुःखी है। सब दुर्बल हो गए हैं। चारों ओर से बस्तियों के उजाड़ हो जाने के दुस्संवाद सुन पड़ते हैं। राजमहल में दारिद्र्य छाया हुआ है। जब बादशाह और शाहजादों के देश की यह दशा है, तब अन्यान्य रईसों का कहना ही क्या है? शूरता तो अब केवल जिह्वा में निवास करने लगी है। व्यापारी लोग चारों ओर रोते फिरते हैं—मुसलमान घबराए

हुए हैं, हिंदू महा दुःखी हैं, यहाँ तक कि प्रजा को संध्या के समय भोजन तक नसीब नहीं होता और दिन भर लोग दुःखी हो अपना सिर धुना करते हैं।

"उस बादशाह का राज्य कितने दिनों तक टिक सकता है जिसने कर के बोझ से अपनी प्रजा की ऐसी दुर्दशा कर रखी है? पूर्व से पश्चिम तक लोग यही कहते हैं कि हिंदुस्तान का बादशाह हिंदुओं का ऐसा द्वेषी है कि वह ब्राह्मण, योगी, बैरागी, संन्यासी और रंक पर भी कर लगाता है और अपने उत्तम तैमूरी वंश को इन धनहीन और निरुपद्रवी उदासीन लोगों को दुःख देकर कलंकित करता है। अगर आपको उस किताब पर विश्वास है, जिसको आप ईश्वर का वाक्य कहते हैं, तो उसमें देखिए कि उसमें ईश्वर को मनुष्य मात्र का स्वामी लिखा है, केवल मुसलमानों का नहीं। उसके सामने हिंदू और मुसलमान दोनों ही बराबर हैं। मनुष्य मात्र को उसी ने जीवन-दान दिया है। नाना रंग के मनुष्य उसी ने अपनी इच्छा से उत्पन्न किए हैं। आपकी मसजिदों में उसी का नाम लेकर चिल्लाते हैं और हिंदुओं के देव-मंदिरों में उसी के नाम पर घंटे बजाए जाते हैं। सब उसी को स्मरण करते हैं। अतः किसी जाति को दुःख देना, परमेश्वर को दुःख देना है। हम लोग जब कोई चित्र देखते हैं, तब उसके चितेरे को स्मरण करते हैं। किंतु यदि हम उस चित्र को बिगाड़ें तो हमारा यह काम उस चितेरे की अप्रसन्नता का कारण होगा; और कवि के कथनानुसार किसी सुगंधयुक्त पुष्प का सूँघना, मानों उसके बनानेवाले का आदर करना है और उस फूल का बिगाड़ना उसके बनानेवाले को बिगाड़ना है।

"तात्पर्य यह है कि हिंदुओं पर आपने जो कर लगाना चाहा है, वह न्याय के नितांत विरुद्ध है, राज्य के प्रबंध को नाश करनेवाला है। ऐसा करना अच्छे राज्याधीशों का लक्षण नहीं है और यह काम बल को शिथिल करनेवाला है; हिंदुस्तान की रीति के सर्वथा विरुद्ध है। यदि आपको अपने मत का ऐसा ही आग्रह हो और आप इसको न छोड़ें तो पहले रामसिंह से, जो हिंदुओं का अगुआ है, यह कर वसूल करें और फिर अपने इस शुभचिंतक को बुलावें। किंतु इस प्रकार प्रजापीड़न वा रणभंग वीर धर्म और उदार नीति के विरुद्ध है। बड़े आश्चर्य की बात है कि आपके मंत्रियों ने आपको ऐसे हानिकर विषय में कोई उत्तम मंत्र नहीं दिया।"

नीतिवालों का कहना है कि मूर्ख को उपदेश देना विपत्ति मोल लेना है। सर्प को दूध पिलाना उसका विष बढ़ाना है। राजसिंह के इस सदुपदेशपूर्ण पत्र ने औरंगजेब की क्रोधाग्नि को भड़का दिया। राजसिंह ने प्रभावती को हरकर, औरंगजेब के क्रोध को भड़काया। वह क्रोध राजकुमार अजीत को आश्रय देने से दूना हो गया, पर आज इस पत्र को पढ़ने से वह इतना क्रुद्ध हुआ कि अपने आप को न सम्हाल सका। उसने तुरंत ही सेना सजाकर और मेवाड़ पर चढ़ाई करके, राजसिंह के पत्र का उत्तर दिया। उसकी चढ़ाई की तैयारी और उसकी सेना के सैनिकों की संख्या देखकर तथा राजसिंह के बल को देख कहना पड़ेगा कि औरंगजेब ने कीट पर कटक चढ़ाना चाहा था। विशाल मुगल साम्राज्य के सामने जिनका राज्य एक तिल के समान है, आज क्रोधोन्मत्त औरंग-

जेब ने, उसी राज्य को विध्वंस करने के निमित्त अपनी बड़ी भारी सेना सजाई है। अपने प्रधान सेनापति को बुलाकर औरंगजेब ने कहा था—"मेरे राज्य में जितनी सेना है, सब को इकट्ठी कर, एक प्रचंड और अजेय दल बनाओ।" इस आज्ञा के पाते ही प्रधान सेनापति ने राज्य भर के प्रसिद्ध प्रसिद्ध सेनापतियों और सामंतों को एकत्र किया। इस चढ़ाई में योग देने के लिये वंग से राजकुमार अकबर और काबुल से राजकुमार अजीम बुलाए गए। शिवाजी के साथ युद्ध बंद करके साम्राज्य के उत्तराधिकारी राजकुमार मुअज्जम भी दक्षिण से बुला लिए गए। इस प्रकार अपनी वाहिनी को सजाकर औरंगजेब स्वयं मेवाड़ की ओर प्रस्थानित हुआ। उफनते हुए समुद्र के समान उस विकट सैन्य दल का गर्जन-तर्जन दूर ही से राजसिंह के कान में पड़ा। उसे सुनते ही उत्साह के मारे उनका दाहिना हाथ फड़कने लगा। उन्होंने तुरंत ही तेजस्विनी भाषा में अपने वीरों को उत्साहित कर रणोन्मत्त बना दिया। उनके शूर सामंत और वीर सैनिक युद्ध के लिये तैयार हुए। उनकी प्रजा नीचे स्थानों को छोड़ पहाड़ों के निर्जन और दुर्गम स्थानों में जा बसी। इस प्रकार देखते देखते अरावली की तलैटी सूनी हो गई। उन स्थानों को शून्य देख औरंगजेब ने उन सब को अपने अधिकार में कर लिया। फिर क्या था! औरंगजेब जिन हिंदुओं को पाता, उन पर घोर अत्याचार करता था। उसके इन दुष्कर्मों को देख राजसिंह ने

सोचा कि इस भयंकर युद्धाग्नि में केवल शिशोदिया वंश का मान और गौरव ही भस्म न होगा, किंतु राजपूत जाति का सनातन धर्म भी अपदस्थ होगा। इसके अतिरिक्त स्त्रियों का स्वर्गीय सतीत्व रत्न भी पापी दुराचारी मुगलों के हाथ से नष्ट भ्रष्ट होगा। इस विपत्ति को सम्मुख देख वीर राजपूत शरीर में प्राण रहते क्योंकर चुपचाप बैठ सकते हैं। अतः औरंगजेब की इस भीषण चढ़ाई को रोकने के लिये, दृढ़ प्रतिज्ञा करके वीर राजपूतों के झुंड के झुंड राजसिंह के भगवे झंडे के नीचे आकर इकट्ठे होने लगे। विपत्ति में महाराणाओं का सदा साथ देनेवाले भील भी धनुषबाण लेकर, राजसिंह की सहायता के लिये आ खड़े हुए। एक ओर "जय जय" शब्द और दूसरी ओर "अल्लाहो अकबर" के चीत्कार से अरावली पर्वत की शैलमाला गुंजारित होने लगी।

तदनंतर राजसिंह ने अपनी संपूर्ण सेना को तीन भागों में बाँटा; फिर उन तीनों भागों का संचालन-भार योग्य सेनापतियों को सौंपा। ज्येष्ठ राजकुमार जयसिंह ने अपने अधीनस्थ सेना को अरावली के शिखर पर ठहराकर, उसका ऊपरी भाग बड़ी चतुराई से सुसज्जित किया जिससे शत्रु का मार्ग दोनों ओर से रुका रहे। गुजरात और उसके आस पास बसनेवाले भीलों के साथ संबंध खुला रखने के लिये राजकुमार भीमसिंह गुजरात में पश्चिम की ओर से पर्वत की रक्षा करने लगे। उधर राजसिंह स्वयं अपनी वीर वाहिनी को लेकर नाइन

नामक घाटी में जा विराजे। यदि इस स्थान को हम अभेद्य कहें, तो भी अनुचित न होगा। राजसिंह ने इस स्थान में अपनी प्रचंड सेना को इस चतुराई से खड़ा किया कि शत्रुओं के उसके भीतर आते ही वे उन्हें घेर लें। इस प्रकार तीन स्थानों पर अपनी सेना के तीन दलों को खड़ाकर राजसिंह बड़े उत्साह से औरंगजेब के वीरोचित स्वागत की प्रतीक्षा करने लगे। पर सौभाग्यवश औरंगजेब उस मार्ग से न जाकर, बाहर ही बाहर चलकर भीलों की देवारी नामक एक बस्ती में जाकर टिक गया। वहाँ से उसने सेनापति तहव्वर खाँ की सम्मति से पचास हजार सैनिक साथ कर अपने पुत्र अकबर को उदयपुर की ओर भेजा। औरंगजेब स्वयं उसी स्थान पर ठहरा रहा। यह स्थान चारों ओर पहाड़ों से घिरकर अंडाकार सा बन गया है। यहाँ से निकलने के केवल तीन ही मार्ग हैं। पहला तो उत्तर की ओर है जो दैलवाड़ा होकर जाता है, दूसरा पहले और तीसरे के बीच में है। यह देवारी के पास से होकर गया है; और तीसरा मार्ग चप्पन की ओर को फैला हुआ है। इसी का नाम नाइन है। राजसिंह ने इसी घाटी पर अपनी सेना को खड़ा किया था। औरंगजेब ने इन तीनों रास्तों में जो सब से सरल था, उसी से चलकर सरोवर के तट पर जा अपना शिविर स्थापित किया था।

अकबर पचास हजार सेना ले उदयपुर की ओर चला। मार्ग में उसे अनेक राजप्रासाद, वाटिका, सरोवर-समूह मिले, पर

वे सब निर्जन थे। वह बिना किसी प्रकार की रोकटोक के चला गया। अकबर जानता था कि मेवाड़ी प्रजा पहले ही घर द्वार छोड़ पहाड़ों पर भाग गई है। इससे उसे उन स्थानों को निर्जन देखकर आश्चर्य न हुआ। वह ठहर गया और निश्चिंत हो रहने लगा। परंतु वह बहुत दिनों तक इस प्रकार निश्चिंत न रहने पाया। राजकुमार जयसिंह ने अपने प्रचंड विक्रम से उन सब को दलित और त्रस्त कर दिया। जिस समय जयसिंह ने अकबर की सेना पर आक्रमण किया, उस समय शत्रु पक्ष की सेना का कोई सैनिक तो नमाज़ पढ़ रहा था, कोई दावत खा खाकर आनंद मना रहा था, कोई शतरंज खेल रहा था। सारांश यह कि चोरी करने आकर, ये चोर सोए हुए थे। राजकुमार जयसिंह ने अकबर की बहुत सी सेना मार डाली। बहुत से सैनिक इधर उधर भागकर अपने प्राण बचाने का उपाय ढूँढ़ने लगे; पर चारों ओर से मार्गों के अवरुद्ध होने के कारण राजपूतों की तलवार से काट डाले गए। अकबर भागकर बादशाह के पास जाने का उद्योग करने लगा, पर राजसिंह ने उस रास्ते को, पहले ही अपने सैनिक खड़े करके, बंद कर रखा था। अतः अकबर के भागने के सारे यत्न विफल हुए। तब उसने ने गोगुंडा के भीतर से मारवाड़ के खेतों में होकर भागना चाहा। परंतु वह मार्ग भी रुका हुआ था। उस मार्ग पर वीर सामंत भीलों की सेना लिए खड़े थे। पीछे से राजकुमार जयसिंह अकबर का

पीछा करते हुए, उसके पीछे का मार्ग रोके हुए थे। इस प्रकार चारों ओर से घिरकर अकबर बड़ी विपत्ति में फँसा। वह जिधर दृष्टि डालता, उधर ही काल के समान वीर राजपूतों की चमकती हुई तलवारें उसे दिखलाई पड़ती थीं। इस संकट में पड़ कितने ही दिन अकबर ने व्यतीत किए। अंत में भोजन की सामग्री निबटने को हुई और क्षुधा की भयंकर विकट मूर्त्ति उसे देख पड़ने लगी। तब अन्य उपाय न देख उसने जयसिंह से अनुग्रह की भिक्षा माँगी और इस युद्ध के कारण को मिटा देने की प्रतिज्ञा भी की। उदार एवं सरल-हृदय जयसिंह उसकी बातों में आ गए और दयावश हो उसे छोड़ दिया। यही नहीं, बल्कि मार्ग बताने के लिये उसके साथ अपने अनेक सैनिक भी कर दिए। उनकी सहायता से अकबर उस अगम्य मार्ग को पार कर सकुशल चित्तौर के परकोटे के निकट पहुँच गया। यह वृत्तान्त तो टाड साहब लिखित है, पर प्रसिद्ध इतिहास-लेखक आर्मी साहब कहते हैं कि औरंगजेब स्वयं ससैन्य गिरिपथ में बंदी हुआ था। वे लिखते हैं कि अज्ञात गिरिमार्ग से चलकर औरंगजेब एक ऐसे तंग खड्डे में जा पहुँचा जिसके सामने का मार्ग बड़े बड़े ऊँचे और सीधे खड़े पर्वतों से बंद था। उधर रात भर में राजपूतों ने पत्थरों और वृक्षों को काट काट और वहाँ पटक पटककर पीछे का रास्ता भी बंद कर दिया। फिर राजपूत वीर पहाड़ों के ऊपर से मुगल सेना पर शस्त्रों की वर्षा करने लगे।

मुगलों ने उन पहाड़ों पर चढ़ना चाहा, पर राजपूत वीरों ने उन्हें चढ़ने न दिया। घाटी के बाहर औरंगजेब की जो सेना थी, उसने उस मार्ग को साफ करने का बहुतेरा यत्न किया, पर राजपूतों के सामने उसकी एक न चल पाई। कहते हैं कि औरंगजेब की प्यारी बेगम भी इस चढ़ाई में उसके साथ थी। वह भी अपने रक्षकों सहित पर्वत पर एक जगह ठहरी थी। वह भी पकड़ ली गई। उसके साथ जो रक्षक थे, उन्होंने अपने आप राजपूतों के हाथ आत्म-समर्पण कर दिया। राजसिंह ने बेगम का यथोचित सम्मान किया। दो दिन तक औरंगजेब को उस घाटी में कैद रख बेगम को अपने यहाँ टिकाया। यदि राजसिंह हिंदू जैसा दयालु हृदय न रखते, तो औरंगजेब ससैन्य भूखा प्यासा मार डाला जाता। पर नहीं, दूसरे ही दिन उदार एवं दयालु हृदय राजसिंह ने अपने सैनिकों द्वारा उस मार्ग को साफ कराकर रास्ता खोल दिया। फिर अपने सेनापतियों के द्वारा उसकी बेगम को भी उसके पास भेज दिया। साथ ही यह भी कहला भेजा कि इस उपकार के बदले मैं यही प्रत्युपकार चाहता हूँ कि आपको मार्ग में यदि कहीं कोई गौ दिखाई पड़े तो उस पर हाथ न उठाइएगा। पर कृतघ्न दुराचारी औरंगजेब क्यों मानने लगा था। महाराणा के उपकार को न मानकर वह कहने लगा कि राजसिंह ने आगे के युद्ध से छुटकारा पाने के लिये हमको मार्ग दिया है। जो हो, आर्मी साहब ने यही लिखा है।

अस्तु। अब हम फिर टाड साहब के वर्णन का अनुसरण कर इस युद्ध के आगे का वृत्तान्त लिखते हैं।

कहा जाता है कि मुगलों का प्रसिद्ध वीर सेनापति दिलेरखाँ, अकबर के उद्धारार्थ एक बड़ी सेना ले दैशुरी गिरिमार्ग से इस दुर्गम प्रदेश में पहुँचा, जहाँ विक्रम सोलंकी और गोपीनाथ राठौर उसके वीरोचित स्वागत के लिये पहले ही से तैयार खड़े थे। वहाँ पर दोनों दलों में घोर युद्ध हुआ। अंत में अभागा दिलेरखाँ ससैन्य मारा गया। दोनों बार के युद्धों में मुगल सेना का बहुत सा लड़ाई का सामान महाराणा के हाथ लगा।

अकबर और दिलेरखाँ को हराकर राजसिंह ने औरंगजेब पर आक्रमण किया। वह देवरी में ठहरकर प्रति क्षण अकबर और दिलेरखाँ की विजय का संवाद सुनने को उत्सुक था। इतने में राजसिंह के प्रचंड आक्रमण से उसे अपनी रक्षा का उपाय सोचने की चिंता उत्पन्न हुई। इस देवरी घाटी में हिंदू मुसलमानों का घोर संग्राम हुआ। महाराणा की वीरता से उत्साहित हो उनके वीर राजपूत मुगलों की सेना को भेदते हुए उनकी ओर बढ़ने लगे। राठौर वीर दुर्गादास भी अपने वीर राठौरी सैनिकों को साथ ले औरंगजेब से बदला लेने का गए। मुगल सेना की ओर से फिरंगी गोलंदाजों ने तोपें छोड़ना आरंभ किया। गोलों के छूटते ही रणस्थल में धूआँ हो धूआँ छा गया। गोलों की वर्षा से यद्यपि बहुत से राजपूत बात

की बात में सुरपुर सिधारे, तथापि जो बच गए थे, उनका उत्साह कम न हुआ। वे तोप के गोलों की तिल भर भी परवाह न कर मुगल सेना के व्यूह को भेदकर गोलंदाजों के पास जा पहुँचे और अपनी तेज तलवारों से उन दुष्टों के सिर काट डाले। धीरे धीरे धूआँ भी साफ हुआ और मुगलों का व्यूह भी छिन्न भिन्न हो गया। उस छिन्न भिन्न मुगल सेना में घुस रणोन्मत्त राजपूत वीर उन्मत्त हाथो की तरह मुसलमानों को दलित और त्रस्त करने लगे। जब मुगलों की बहुत सी सेना इस प्रकार मारी गई, तब रक्षा का अन्य उपाय न देख बची हुई सेना को साथ ले औरंगजेब रण छोड़कर भागा। उसकी अनेक तोपें, डेरों में रखा बहुत सा लड़ाई का सामान तथा अनेक बहुमूल्य वस्तुएँ राजपूतों के हाथ लगीं। राजसिंह ने इस विजय-प्राप्ति में अपने अनेक वीरों को खोया।

पराजित और अपमानिन औरंगजेब दुःखी तो हुआ, पर हतोत्साह न हुआ। इस अपमान का बदला लेने के लिये उसने अपनी सेना को चित्तौर के परकोटे के नीचे फिर एकत्र किया और अपने पुत्र सुलतान मुअज्जम को दक्षिण से बुलाया। उधर वीरवर जयमल के वंशवाले श्यामलदास ने अपने कितने ही वीर सैनिकों के साथ चित्तौर और अजमेर के बीचवाले स्थानों को तथा अजमेर और चित्तौर को छिन्न भिन्न कर दिया। साथ ही मुगलों की सेना पर आक्रमण कर उसके

छक्के छुड़ा दिए। औरंगजेब बहुत डरा और वहाँ से भी भागने का विचार करने लगा। अंत में अपनी रक्षा का उपाय न देख, उसने अपने पुत्र अकबर और अजीम को इस युद्ध का भार सौंपा; तथा जब तक इस सेना की पुष्टि और सेना से न हो, तब तक के कर्त्तव्य कार्य का परामर्श दे वह अजमेर की ओर लौट गया। वहाँ पहुँचते ही उसने अपने दोनों शाहजादों की सहायता के लिये बहुत सी सेना भेजी और राठौर वीर श्यामलदास को परास्त करने के लिये रुहेलाखाँ को बारह हजार सैनिकों के साथ चित्तौर भेजा। रणकुशल श्यामलदास ने रुहेलाखाँ की अवाई सुन और आगे बढ़ पुरमंडल नामक स्थान पर पहुँच, उस पर आक्रमण किया। रुहेलाखाँ के छक्के छूट गए और वह हारकर अजमेर को लौट गया। इस युद्ध में भी मुगलों की ओर के बहुत से योद्धा खेत रहे।

उधर राजकुमार भीम चुपचाप न थे। उन्होंने गुजरात पर चढ़ाई कर दी और ईडर नगर ध्वस्त कर वहाँ के यवन बादशाह हुसेन और उसकी सेना को वहाँ से निकाल दिया। फिर वे बड़नगर होते हुए पट्टन में जा पहुँचे। यह नगर उस समय गुजरात देश की राजधानी थी। भीम ने इस नगर को खूब लूटा। सिद्धपुर, मुड़ासा तथा अन्य नगरों को भी भीम ने लूटा। वहाँ के लोग दुःखी हो महाराणा राजसिंह के पास पहुँचे और उनसे क्षमा माँगी। उनकी हीन दशा देख दयालु राजसिंह ने भीम को वहाँ से लौट आने की आज्ञा भेजी।

पिता के आज्ञाकारी पुत्र भीमसिंह सूरत को जा रहे थे, पर पितृ-देव की आज्ञा पाते ही वे तुरंत उदयपुर की ओर लौट आए।

राजसिंह के दीवान का नाम दयालदास था। वे जैसे साहसी थे, वैसे ही कार्य-चतुर भी थे। मुगलों से बदला लेने की उत्कंठा सदा उनके मन में बनी रहती थी। अतः उन्होंने शीघ्र चलनेवाले अश्वारोही सैनिकों को साथ ले नर्मदा और बेतवा नदी तक फैले हुए मालव राज्य को लूटा। उनका सामना करने का किसी को साहस नहीं होता था। दीवान साहब ने अपने बाहुबल से सारंगपुर, देवास, सिरोंज, माडू, उज्जैन और चँदेरी को जीत लिया। वहाँ पर दीवान साहब को जितने मुसलमान सैनिक मिले, उन सबको उन्होंने मार डाला। उनके डर से उन नगरों के मुसलमान इतने डरे कि उन्हें अपने बाल-बच्चों तक का मोह न रहा और अपने प्राण बचाने को वे घर छोड़कर भागने लगे। औरंगजेब अपना हृदय पत्थर का बनाकर राजपूतों पर अत्याचार करता था। आज सुअवसर पा राजपूत भी भला क्यों चूकने लगे। उन्होंने काजियों के हाथ-पैर बाँधकर उनकी डाढ़ी-मूछें मुड़वा दीं और उनके कुरान की पुस्तकों को कूओं में फेकवा दिया। दीवान साहब का नाम तो दयालदास था, पर वे मुसलमानी अत्याचारों को स्मरण कर इस युद्ध में इतने कठोर-हृदय हो गए थे कि उन्होंने किसी मुसलमान को क्षमा न किया। उनके मालवा के राज्य को तो इन्होंने उजाड़कर एकदम ही वीरान

कर दिया। इन नगरों को लूटने से जो धन तथा सामग्री दयालदास के हाथ लगी थी, वह ले जाकर उन्होंने अपने स्वामी के धनागार में जमा करा दी।

फिर दीवानजी ने राजकुमार जयसिंह के साथ मिलकर चित्तौर के अत्यंत समीप शाहजादे अजीम पर आक्रमण किया। इस आक्रमण में मेवाड़ के वीरों के साथ राठौर और खीची वीर भी शामिल थे। अतः अजीम को इस युद्ध में बुरी तरह हारना ही न पड़ा, बल्कि उसको अपनी जान के भी लाले पड़ गए। वह वहाँ से भागकर रणथंभौर पहुँचा। पर इस नगर में पहुँचने के पहले ही उसकी बड़ी हानि हो चुकी थी; क्योंकि विजयी राजपूतों ने उसका पीछा कर उसकी बहुत सी सेना को मार डाला था।

इतना होने पर भी राजसिंह का मन शांत नहीं हुआ। उनका मन शांत हो ही क्योंकर सकता था। क्योंकि जिस नृशंस दुष्ट औरंगजेब ने असंख्य हिंदुओं को पशु की तरह मरवाया था, जिसने सुवर्ण-भूमि मेवाड़ को उजाड़कर श्मशान बना दिया था, जिसने सनातन हिंदू धर्म को पैर से खूँदने में कोई बात उठा नहीं रखी थी, उस औरंगजेब के लिये क्या इतना ही दंड पर्याप्त हो सकता था? कभी नहीं। राजसिंह ने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक मेवाड़ भूमि पर एक भी मुसलमान सैनिक रहेगा, तब तक राजपूतों की तलवार म्यान के बाहर ही रहेगी। राजसिंह ने अपने प्रतिज्ञानुसार कार्य्य कर

कुछ समय के लिये अपने हृदय को शांत किया। परंतु यह शांति कुछ ही काल के लिये थी। क्योंकि राठौर राजकुमार अजीतसिंह के स्वत्व की रक्षा के लिये उन्हें फिर तलवार म्यान से निकालनी पड़ी और यवनों के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करनी पड़ी।

अजीत को मेवाड़ भेज, मृत जसवंत की रानी ने मारवाड़ के शासन की बागडोर अपने हाथ में ली। वहाँ का शासन हस्तगत कर लेने पर रानी को अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था; किंतु बुद्धिमती रानी ने अपनी बुद्धिमत्ता और तेजस्विता से उन सब को दूर ही नहीं किया, किंतु अपने वैरियों से अपना बहुत सा विभव भी छीन लिया। कारण यह था कि अजीत की माता शिशोदिया वंश की थी; अतः वीर नारी में जितने गुण होने चाहिएँ, वे सब उसमें थे। इन्हीं गुणों के द्वारा इतने दिनों तक वे अपने अप्राप्तवयस्क पुत्र अजीत के अधिकारों की रक्षा करने में समर्थ हुई थीं। पर इधर औरंगज़ेब ने उन पर ऐसे घोर अत्याचार करने आरंभ कर दिए थे कि वे अब उन्हें असह्य जान पड़ने लगे थे। इसी लिये अजीत की माता के परामर्श से महाराणा राजसिंह मेवाड़ी और मारवाड़ी सेना ले अब की बार गोड़वाड जनपद के प्रधान नगर गनौर में बादशाह के विरुद्ध युद्ध करने को तैयार हुए। राजकुमार भीम अकेले ही अपनी वीरवाहिनी ले अकबर और तहव्वरखाँ के सामने हुए। शीघ्र ही दोनों दलों

में भयंकर संग्राम होने लगा। राजपूतों के भयंकर आक्रमण को न सहकर मुगल सैनिकों ने पीठ दिखलाई। कहा जाता है कि इस युद्ध में जीत एक राजपूत की चतुराई से हुई थी। राजपूतों ने मुगलों की सेना में से पाँच सौ ऊँट छीन लिए और उनकी पीठों पर जलती मशालें बाँध, उन्हें बादशाही सेना में छोड़ दिया। रात्रि के घोर अन्धकार में इतनी मशालें एक साथ जलती देख मुगल सैनिक भयभीत हो इधर उधर भाग खड़े हुए। उसी समय राजपूतों ने उन पर घोर रूप से आक्रमण कर उन्हें परास्त किया।

औरंगजेब का कोई मनोरथ सिद्ध न हुआ; और इधर राजपूतों ने उसे तख्त से उतारकर, उसकी जगह उसके बेटे अकबर को बैठाने की सारी तैयारियाँ कर लीं। यहाँ तक कि ज्योतिषो ने तख्त पर बैठने की सायत भी बता दी। अकबर राजपूतों से मिला ही हुआ था। मिलने का कारण यह था कि उसे अपने पिता का दीनी कट्टरपन बुरा लगता था और वारांतर में कहने पर भी औरंगजेब उसकी बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं देता था। अस्तु। पर जिस ज्योतिषी ने तख्त पर बैठने का मुहूर्त्त बतलाया था, उसने विश्वासघात किया और जाकर सारा भेद औरंगजेब को बतला दिया। औरंगजेब उस समय असहाय था। इसका कारण यह था कि उसके दो और पुत्र उसके पास न थे; एक दक्षिण में था और दूसरा बंगाल में। बहुत शीघ्र चलने पर भी वे दोनों आकर,

समय पर, उसकी रक्षा नहीं कर सकते थे। उसके अत्याचारों से उसकी प्रजा उस पर अप्रसन्न और असंतुष्ट थी ही। अतः ज्योतिषी से सारा हाल सुन वह कुछ क्षणों के लिये चिंता-सागर में डूब गया, परंतु हताश हो भाग्य पर ही निर्भर हो वह हाथ पैर बाँधे बैठा न रहा। उसने प्रस्तुत संकट से उबरने का उपाय सोचा और वह उपाय कारगर भी हुआ। जहाँ पर साम, दाम, दण्डनीतियाँ काम नहीं देतीं अथवा इनके प्रयोग का अवसर नहीं होता, वहाँ राजनीति-विशारद चौथी नीति भेद से काम लेते हैं। औरंगजेब ने भी अकबर और राजपूत सैनिकों के प्रधान सेनापति दुर्गादास के मनों में भेद उत्पन्न कर अपना काम बना लिया। उसने झट एक पत्र अकबर के नाम लिखा। उसमें लिखा—"बेटे! तुम्हारे इस चातुर्य्यपूर्ण कार्य से मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। परंतु सावधान रहना। कहीं ऐसा न हो कि हमारे इस गुप्त षड्यंत्र को राजपूत जान लें। जब वे हमारे साथ युद्ध करने लगें, तब तुम अपनी सेना द्वारा उनका भली भाँति संहार करना। ऐसा होने ही से हमारी अभिलाषा पूरी होगी।"

यह पत्र लिख, औरंगजेब ने अपने एक विश्वस्त नौकर को दिया और कहा कि इस पत्र को दुर्गादास के सामने किसी प्रकार डाल देना। नौकर ने वैसा ही किया। पत्र पर अकबर का नाम और उस पर औरंगजेब की मोहर देख, दुर्गादास ने उत्सुकतापूर्वक उसे उठाकर खोला। खोलकर उसको

पढ़ते ही दुर्गादास के मन में खटका उत्पन्न हुआ; और जो संकल्प उन्होंने किया था, उसे तुरंत त्याग दिया। औरंगजेब जो चाहता था, वही हुआ। बुद्धिबल ने इतने विपुल जनसमूह को बात की बात में परास्त कर दिया। कारण यह था कि राजपूतों को मुसलमान कितनी ही बार छल चुके थे, उनको धोखा दे चुके थे और उनके साथ विश्वासघात कर चुके थे। अतः दुर्गादास को अगत्या उस छल से भरे हुए पत्र पर विश्वास करके विश्वस्त अकबर को संदेह की दृष्टि से देखना पड़ा। निर्दोष अकबर ने जब देखा कि राजपूत बदल गए, तब उसके मन पर जैसी बीती होगी, उसका हम लोग कैसे अनुमान कर सकते हैं? पर पीछे यह बात खुली और दुर्गादास ने अकबर का साथ दिया। दुर्गादास ने अकबर को पालवगढ़ तक भेज दिया। वहाँ से अकबर जहाज पर सवार हो फ्रांस को चला गया।

औरंगजेब अपने पुत्र अकबर और राजपूतों के मेल से बहुत डरा और उसने राजपूतों के साथ संधि करने का विचार भी पक्का कर लिया। परंतु उससे अपनी ऐंठ न छोड़ी गई। उसने स्वयं संधि का प्रस्ताव उठाना अपनी मर्य्यादा के विरुद्ध समझा। तब उसने एक उपाय सोचा। वह यह था। उसके सेनापति दिलेरखाँ की अधीनता में एक हीनचरित विलक्षण राजपूत सैनिक काम करता था। इस समय उसने ही औरंगजेब की मर्य्यादा रखी। वह राजपूत अपने देश जाने का बहाना कर, मार्ग में बड़े शिष्टाचार सहित राजसिंह

से मिला। बातचीत होते होते उस सैनिक ने महाराणा से कहा—"यद्यपि औरंगजेब स्वयं संधि के प्रस्ताव को नहीं उठा सकता, तथापि वह उसे स्वीकार करने को उद्यत है।" यह सुन महाराणा ने आग्रहपूर्वक कहा—"तब आप ही हमारी ओर से बादशाह के सामने संधि का प्रस्ताव उठाइए।"

औरंगजेब तो यह चाहता ही था। उस राजपूत* ने जाकर औरंगजेब से यह हाल कहा। औरंगजेब ने तब भी धोखेबाजी की। संधि करने की बात को आजकल कहकर वह टालता गया और महाराणा को युद्ध की तैयारी से विमुख रख स्वयं युद्ध की तैयारियाँ करता रहा। वर्षा बीतने पर दुष्ट औरंगजेब ने सेना को साथ ले महाराणा पर चढ़ाई की। परंतु उस समय दोनों में संधि हुई। संधि तो हुई, पर जिस मुंडकर के कारण इतना नर-रक्त बहाया गया था, उस मुंडकर का उस संधि-पत्र में नाम तक नहीं है। इस संधि से राजसिंह को चित्तौर का इलाका मिला। जोधपुर की बात भी उसमें लिखी गई। राजसिंह के सुरपुर सिधारने पर उनके पुत्र जयसिंह के शासनकाल में यह संधि हुई थी।

टाड साहब के मतानुसार प्रतापसिंह ने जिस दिन से इस लोक से यात्रा की थी, उस दिन से मेवाड़ की भूमि विषाद रूपी अंधकार से ढक गई थी। उस अंधकार को न तो अमर, न कर्ण और न जगत्‌सिंह ही दूर कर सके थे। पर वीर-

* इस राजपूत का नाम श्यामसिंह था।

केसरी राजसिंह ने अपने अद्भुत विक्रम और प्रकाशमान देश के प्रेम से उस अंधकार को दूर कर मेवाड़ के नष्ट हुए गौरव का पुनरुद्धार किया था। टाड साहब का मत सर्वथा मान्य है कि राजसिंह का पद एक प्रकार से उक्त महाराणाओं से ऊँचा है। कारण यह है कि प्रताप आदि ने निस्संदेह अपनी मेवाड़ भूमि की रक्षा के लिये अनेक कष्ट सहकर अपने सुख का ही विसर्जन नहीं किया था, किंतु अपने परिवार को भी अनेक कष्ट सहाए थे। पर राजसिंह और प्रतापसिंह आदि में बड़ा अंतर यह है कि प्रताप ने केवल अपनी मातृभूमि के लिये ही सारा युद्धकांड किया था, किंतु राजसिंह का हृदय मुंडकर को सुनकर सारे भारतवासियों के लिये दुखा था। उन्होंने अपने मेवाड़ के गौरव के लिये यवनों से युद्ध किया और मारवाड़, रूपनगर आदि के राजपूतों के स्वत्वों और धर्म के लिये मुगलवाहिनी को मथित किया था। प्रताप की सहानुभूति और समवेदना अरावली पर्वतमाला की सीमा के भीतर ही तक थी, किंतु राजसिंह की सहानुभूति और समवेदना उक्त पर्वतमाला को बेधकर सारे भारतवर्ष में फैल गई थी। इसी से कहना पड़ता है कि राजसिंह सचमुच ही राजसिंह थे।

दो प्रणयी वीर

जैसलमेर के भाटी राजा के अधीन एक नगर है जिसका नाम है पूगल। जिस समय का वृत्तांत हम लिख रहे हैं, उस समय पूगल में राणांगदेव नामक एक भाटी सरदार का एकाधिपत्य शासन था। इसी राणांगदेव के साइल नामक एक बड़ा पराक्रमी पुत्र उत्पन्न हुआ। यह अपनी आजीविका अपने बाहुबल ही से उपार्जित करता था। नागौर से लेकर नदी-तट तक की जितनी बस्तियाँ थीं, उन सब पर आक्रमण कर वहाँ के लोगों का माल-टाल लूटना ही इसका काम था। इस साइल से मारवाड़ के निवासी उसी तरह डरते थे, जैसे कोई मृत्यु से डरता हो।

एक दिन साइल कहीं से कई एक ऊँटों और घोड़ों को लूटकर मोहिलों की राजधानी में होकर अपने घर जाने लगा। उस समय उस राजधानी के अधिपति माणिकराज ने सादर उसे आमंत्रित किया। साइल आमंत्रण स्वीकार कर उसके पास गया। साइल के पहुँचने पर माणिकराज ने उसका बड़ा आदर सत्कार किया। फिर दोनों बैठकर बातचीत करने लगे। साइल अपने वीरत्व की कथा कहने लगा, जिसे सुनकर माणिकराज की लड़की, जिसका नाम कोड़मदे था, साइल पर मोहित हो गई। कोड़मदे की सगाई, इस घटना के पहले,

मंडोराधिपति चूड़ाराव के चतुर्थ पुत्र अर्ड्कमल के साथ हो चुकी थी। विवाह भी शीघ्र ही होनेवाला था। पर कोड़मदे इस संबंध से प्रसन्न न थी। इतने में साइल की वीरता का हाल सुन कोड़मदे ने साइल को पसंद किया। कोड़मदे की सहेलियों ने उसे बहुत कुछ ऊँच-नीच समझाया, पर वह न मानी। अंत में कोड़मदे ने कहा—"मैं तुच्छ राजसिंहासन को लेकर क्या करूँगी! मैं उच्च राठौर कुल की वधू नहीं बनना चाहती।"

अंत में कोड़मदे की प्रतिज्ञा को उसके माता-पिता ने भी सुना। सुनते ही वे भयभीत और दुःखी हुए। क्योंकि वे उच्च राठौर कुल को अपनी लड़की ब्याह कर गौरव प्राप्त करने के प्रयासी थे। किंतु अभाग्यवश उनका सोचा विचारा न हो पाया। यही नहीं, माणिकराज को बड़ा भय यह आकर उपस्थित हुआ कि यदि यह संबंध टूट गया, तो राठौर वीर चूड़ा मुझ पर चढ़ाई कर, मुझे समूल नष्ट कर डालेगा। इन विचारों के मारे माणिकराज का चित्त अशांत हो गया। वह कुछ भी स्थिर न कर सका कि मैं करूँ तो क्या करूँ। अंत में पुत्री ही की बात उसे रखनी पड़ी; और कोड़मदे ने जो प्रतिज्ञा ठानी थी, वही पूरी करनी पड़ी।

खान-पान समाप्त होने पर मोहिलराज ने साइल से अपना अभिप्राय प्रकट किया। साथ ही इस नए संबंध से आनेवाली विपद का भी वृत्तांत कहा। पर तेजस्वी साइल राठौर

वीर चूड़ा की अप्रसन्नता से तिल भर भी न डरा। उसने निर्भय होकर कहा—"यदि रीति के अनुसार पूगल में नारियल भेजा जाय, तो मैं आपकी लड़की के साथ विवाह कर सकता हूँ।"

इस प्रकार बातचीत हो चुकने पर साइल अपने नगर को चला गया। उसके अपने नगर में पहुँचने के कुछ ही दिनों बाद माणिकराज ने रीति के अनुसार नारियल भेजा। नारियल पाते ही शुभ मुहूर्त्त में साइल, माणिकराज की राजधानी में, बरात लेकर पहुँचा। साइल तथा कोड़मदे का विवाह हो गया। विवाह के उपलक्ष्य में माणिकराज ने अपने जमाई को बहुमूल्य मणि, रत्न, सोने चाँदी के बरतन, सुवर्ण की बनी बैल की एक प्रतिमा और तेरह राजपूत स्त्रियाँ दीं।

इस विवाह का संवाद चूड़ा के पुत्र अर्डकमल ने सुना। वह क्रोध में भर और साइल को दंड देने के अभिप्राय से चार हजार राठौर वीरों को ले गया। उसने साइल का मार्ग रोक लिया। इसके पहले साइल ने साँकला मेहराज नामक एक युवक को मार डाला था। अब यह अवसर पाकर उस हत राजपूत युवक के वृद्ध पिता ने, साइल से बदला लेने के अभिप्राय से, अर्डकमल का साथ दिया। जब यह संवाद माणिकराज ने सुना, तब उसने साइल से सारा हाल कहा। पर वीर साइल तिल भर भी न डरा। यहाँ तक कि माणिकराज के कहने पर भी वह अपने साथ अपने ससुर के चार हजार

योद्धा न ले गया। उसे तो अपने सात सौ भाटी सैनिकों के बाहुबल का पूर्ण विश्वास था। तिस पर भी माणिकराज ने जमाई की रक्षा के लिये अपने साले मेघराज को पचास सैनिकों के साथ भेजा।

इस प्रकार साढ़े सात सौ वीर सैनिकों को ले साइल, चंदन नामक स्थान में पहुँच विश्राम करने लगे। इतने में क्रोधोन्मत्त राठौर वीर सेना समेत उस स्थान में जा पहुँचा। यद्यपि उसका सैन्यबल साइल की अपेक्षा तिगुना था, तो भी उस वीर ने अपने वैरी के संग द्वंद्व युद्ध करना चाहा। दोनों ओर के दल कुछ काल तक विश्राम कर और थकावट मिटाकर अस्त्र शस्त्र ले रणभूमि में उपस्थित हुए। सब से पहले भाटी की ओर से पाहू गोत्रोत्पन्न जयतुंग और राठौरों की ओर से चौहान योद्धा रणक्षेत्र में अवतीर्ण हुए। दोनों घोड़ों पर सवार थे। वे एक दूसरे पर बाज की तरह झपटे। दोनों के हाथों में तेज तलवारें थीं। पास पहुँचकर दोनों ही जयकामना के वशवर्ती हो, अपनी पूरी शक्ति को काम में लाकर एक दूसरे पर प्रहार करने लगे। तलवारों की खटापट से उनमें से चिनगारियाँ निकलने लगीं। अर्ड़क-मल और साइल दोनों ही अपनी अपनी सेनाओं के आगे खड़े खड़े सानंद यह भीषण द्वंद्व युद्ध देखने लगे। इस युद्ध की भीषणता धीरे धीरे बढ़ने लगी। सहसा जयतुंग एक घोर शब्द कर और छलाँग मार घोड़े सहित योद्धा के ऊपर

जा टूटा। इस विकट वेग को न सह सकने के कारण योद्धा घोड़े समेत पृथिवी पर जा गिरा। गिरते ही उसका प्राण-पखेरू उड़ गया। अपने प्रतिद्वंद्वी को मार रणोन्मत्त जयतुंग रक्त से भरी तलवार लिए शत्रु-सेना की ओर लपका। उसने अपने बराबर कई एक योद्धाओं के साथ युद्ध करके उनको स्वर्ग पहुँचाया। उसके इस कृत्य से द्वंद्व युद्ध तो बंद हो गया और अब दोनों दलों में घमासान युद्ध होने लगा। दोनों दलों के सैनिक सिंह जैसा गर्जन कर, एक दूसरे पर प्रचंड वेग से आक्रमण करने लगे।

अर्डकमल और साइल दोनों की इच्छा परस्पर द्वंद्व युद्ध करने की थी। अतएव सैनिकों का व्यर्थ नाश अनुचित समझ दोनों ने द्वंद्व युद्ध करना निश्चित किया और दोनों परस्पर जीतने की इच्छा रखते हुए एक दूसरे पर प्रहार करने लगे। उधर रथ में बैठी कोड़मदे दोनों का युद्ध देख रही थी। युद्ध में प्रवृत्त होने के पूर्व साइल उसके पास बिदा लेने के लिये गया था। उस समय वीर नारी कोड़मदे ने शांत और गंभीर भाव से कहा था—"जाओ, युद्ध करो। मैं इसी जगह रहकर तुम्हारा युद्ध-कौशल और तुम्हारी वीरता देखूँगी।" कोड़मदे के मुख से वीरता भरी बातें सुन साइल का उत्साह दूना हो गया था। वह उसी उत्साह में भर और हाथ में तीक्ष्ण शूल ले शत्रु-सेना में घुसा और अनेक सैनिकों को धराशायी करने लगा। साइल इस प्रकार राठौरों को धराशायी करता हुआ राठौर

राजकुमार अर्डकमल के सामने पहुँचा। उधर राठौर राज-कुमार स्वयं साइल के हृदय के रक्त से अपना अपमान धोने के लिये अब तक उसकी राह देख रहा था। पर उसने साइल को अभी तक पहचान ही नहीं पाया था। इसी से वह क्रोध से उन्मत्त और अधीर होकर अपने प्रतिद्वंद्वी के आने की राह देख रहा था। अब उसने अपने पास खड़े शत्रु को पह-चाना। पहचानते ही उसने अपने पंचकल्याण घोड़े को शत्रु की ओर बढ़ाया। इतने में साइल ने राठौर राजकुमार के सिर को ताककर तलवार का प्रहार किया। किंतु चतुर अर्डकमल ने साइल के प्रहार को रोक कर, उस पर प्रहार किया। उस समय दोनों ही वीर वज्र से टूटे हुए दो मेरु के शिखरों के समान धरती पर गिर पड़े। युद्ध रुक गया। इसे देख दोनों ओर के वीर कुछ समय के लिये स्तब्ध हो गए। फिर कुछ क्षणों के लिये दोनों ओर के वीर युद्ध-क्षेत्र को छोड़ वहाँ से कुछ दूर हटकर खड़े हो गए।

पतिव्रता वीर नारी कोड़मदे की आशा पर पानी फिर गया। उसको आशा थी कि वह स्वामी के साथ रहकर चिरकाल तक स्वर्गीय सुख भोगेगी। पर उसकी यह आशा निराशा में परि-वर्तित हो गई। उसका स्वामी, जिसे उसने कुछ ही काल पहले अपना सर्वस्व अर्पण किया था, आजन्म के लिये वैधव्य की व्यथा दे इस असार संसार से चल दिया। पर कोड़मदे वीर क्षत्रानी थी। युद्ध के विषमय परिणाम को जानकर भी

उस वीर नारी ने अपने प्राणप्रिय को युद्ध में जाने के लिये उत्साहित किया था। उसने अपने हाथ से स्वर्ग का द्वार खोला था। उसका स्वागत करने के लिये स्वर्ग की विद्याधरी पारिजात की विजय-माला लिए द्वार पर खड़ी थी। कोड़मदे अपने मानस चक्षुओं से इस स्वर्गीय दृश्य को देख प्रसन्न हुई। इन दृश्यों को प्रत्यक्ष करने के लिये उसकी उत्कंठा उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। वह पति के साथ जाने को उद्यत हुई। देखते देखते उस रणभूमि में एक बड़ी ऊँची चिता चुनकर तैयार की गई। उसने एक तेज तलवार हाथ में ले अपना दूसरा हाथ काट डाला। उसकी सहेलियाँ और दासियाँ इस भयानक कांड को चुपचाप खड़ी देख रही थीं। कोड़मदे ने अपनी उस कटी भुजा को अपने एक सैनिक को देकर कहा—"तुम जाकर मेरे ससुर को यह दे देना और उनसे कहना कि तुम्हारी पुत्रवधू ऐसी थी।" तदनंतर उसने अपना दूसरा हाथ फैलाकर पास खड़े एक सैनिक से कहा कि तू इसे भी काट डाल। तेजस्विता की प्रत्यक्ष मूर्ति कोड़मदे की बात को वह सैनिक टाल न सका और तुरंत महारानी की आज्ञा का पालन किया। एक ही चोट से कोड़मदे की दूसरी भुजा भी कट गई। उस समय जो लोग खड़े यह दृश्य देख रहे थे, वे अपने को न सम्हाल सके; उनके धैर्य्य का बाँध टूट गया। वे उच्च स्वर से रोने लगे। उनके रोदन से आकाश प्रतिध्वनित हो उठा। पर कोड़मदे के मुखमंडल पर उदासी की रेखा तक न देख

पड़ी। उसने धीर और गंभीर स्वर से आज्ञा दी कि मेरी दूसरी भुजा गोहिल वंश के भाट कवि के पास भेजी जाय। यह आज्ञा देकर अपने प्राणेश्वर के मृत शरीर सहित वह चिता पर जा बैठी। उसके आज्ञानुसार उसकी दोनों भुजाएँ दोनों के पास भेज दी गईं। पूगल के बूढ़े राव ने उस भुजा को जहाँ पर दग्ध करवाया, वहीं पर एक सरोवर की नींव डाली। वह पुष्करिणी आज तक कोड़मदेसर के नाम से पुकारी जाकर उस वीर नारी की कीर्त्ति और उसके नाम को अमर बनाए हुए है।

उधर राठौर राजकुमार अर्डकमल भी अपने चार भाइयों सहित उस युद्ध में बुरी तरह घायल हुआ था। उसके घाव छः मास तक इलाज कराने पर भी न पुरे, बल्कि दिनों दिन उसकी दशा बिगड़ती ही गई। अंत में वह भी उन्हीं घावों की वेदना से सुरपुर सिधारा।

दोनों राज्यों के दो कुलदीपकों के बुझ जाने पर भी यह बखेड़ा ठंढा न हुआ। रक्त के बदले रक्त प्रवाहित होने पर भी दोनों ओर की विद्वेषाग्नि शांत न हुई। फल यह हुआ कि दोनों मृत राजकुमारों के पिताओं ने तलवारें हाथ में लीं। वीर साँकला मेहराज के प्रचंड प्रभाव ही से साइल की सेना नष्ट हुई थी। इसलिये पुत्र-शोक से विह्वल राव राणांगदेव ने मेहराज को दंड देने के उद्देश्य सेससैन्य उसके नगर पर चढ़ाई की। साँकलावाले भी साधारण न थे। मारवाड़ का

कोई वीर अभी तक उनको युद्ध में परास्त नहीं कर पाया था। मेहराज तो स्वयं एक सुप्रसिद्ध वीर था। उसके प्रचंड विक्रम को रोकने की सामर्थ्य अभी तक किसी में नहीं देखी गई थी। यदि आज उसी अप्रतिहत गतिवाले को पूगल का राव राणांगदेव पराजित कर दे, तो क्या यह आश्चर्य की बात न होगी! पूगलपति ने विशाल सेना लेकर चढ़ाई की थी। साँकला-पति उस समय असावधान था। इसी से कहा जाता है कि उसे अपने शत्रु से पराजित होना पड़ा। उसके तीन सौ सैनिकों के उष्ण रक्त से लूनी नदी के तट की बालू आर्द्र हो गई। अनहोनी हुई। राणांगदेव विजय-दुंदुभी बजाता और साँकला राजा का सर्वस्व लूटकर, सगर्व अपने नगर को लौट आया। कहा जाता है कि इस युद्ध में साँकला का राजा मारा गया। उसके मरने का वृत्तांत उसके दोनों पुत्रों तनु और मेरु ने सुना। बदला लेने के लिये वे विकल हुए। पर उनमें इतना बल न था कि वे अपने पितृहंता से बदला ले सकें। अतएव वे उस दारुण क्रोध के वेग को मन ही मन रोककर अपने विचार को कार्य रूप में परिणत करने का उपाय विचारने लगे।

उस समय मुलतान में खिजरखाँ नाम का एक मुसलमान शासक था। क्रोधावेश में भरे तनु और मेरु उसी की शरण में गए; और वे क्रोध के आवेश में इतने आत्म-विस्मृत हुए कि बदला लेने के लिये उन्होंने सनातन धर्म्म को तिलाञ्जलि देकर

दीन इस्लाम ग्रहण किया। यह इसी लिये कि खिजरखाँ उन पर प्रसन्न हो और उनकी मदद करे, जिससे वे अपने शत्रु से बदला लें। उनका विचार पूरा हुआ। खिजरखाँ ने उन्हें एक सेना दी। उस सेना को ले तनु और मेरु राठौर-राज के विरुद्ध युद्ध करने की तैयारियाँ करने लगे। उसी समय जैसलमेर के राजा रावल केहर के तृतीय पुत्र केलण उन दोनों से जाकर मिले। केलण ने उन दोनों के बलाबल की तुलना कर, उनको एक युक्ति बतलाई और कहा—"यदि तुम इस युक्ति के अनुसार कार्य करोगे, तो अवश्य ही तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी।" उसी युक्ति के अनुसार काम करना निश्चित किया गया।

उन्होंने भाटी राजकुमार केलण की बतलाई युक्ति के अनुसार राठौर-राज चूड़ा को जाल में फँसाने की इच्छा की। इसी से उसने अपनी एक कन्या चूड़ा को देने का प्रस्ताव किया। पर शत्रु के पक्ष पर विश्वास न कर चूड़ा ने उस प्रस्ताव को अस्वीकृत किया। तब भाटी राजकुमार ने कहलाया—"यदि आपको संदेह है, तो आपकी आज्ञा मिलने पर मैं अपनी कन्या को नागौर भेज सकता हूँ।" यह बात सुनकर चूड़ा राजी हो गए।

विवाह का मुहूर्त्त निकाला गया। विवाह का जो दिन स्थिर किया गया था, उसके कुछ ही दिनों पहले चूड़ा ने नागौर को जीता था। उसी हाल के जीते नागौर नगर में

धूमधाम से चूड़ा जी के विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। चूड़ा जी भी नागौर में पहुँच अपने विवाह के दिन की प्रतीक्षा करने लगे। धीरे धीरे विवाह का दिन उपस्थित हुआ। उस दिन को हम उनके विवाह का दिन कहते संकुचित होते हैं। वह दिन उनके लिये मारकेश की दशा का छाया दिन था। उस दिन जैसलमेर के तोरण द्वार से निकल, पचास ढके हुए छकड़े नागौर की ओर रवाने हुए। उन छकड़ों के पीछे थोड़े से घुड़सवार और सात सौ ऊँटों के रक्षक थे। किंतु असल में यह विवाह की यात्रा न थी, बल्कि इसे हम युद्ध-यात्रा कहेंगे; क्योंकि जो घोड़ों और ऊँटों के रक्षक बनकर जा रहे थे, वे असल में छद्म-वेशधारी राजपूत सैनिक थे। ढके हुए छकड़ों के भीतर भी स्त्रियों के बदले अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित वीर राजपूत बैठे हुए थे। इन सब के पीछे एक हजार सैनिक चुपके चुपके आ रहे थे। उन ऊँटों पर सैनिकों के खाने-पीने की सामग्री और अस्त्र शस्त्रादि लदे हुए थे।

परंतु राठौर-राज चूड़ा को अपने विवाह ही की सामग्री उन पर देख पड़ती थी। उन्हें यह बात विदित न थी कि यह सारी रचना उनको जाल में फँसाने के लिये ही रची गई थी। चूड़ा विवाहोपयुक्त वस्त्रालंकार से भूषित हो उस छद्मवेश-धारिणी सेना की ओर गया। नगर-द्वार के बाहर पहुँचकर उसने उन छकड़ों को देखा। चूड़ा निडर हो उन छकड़ों के समीप पहुँचा। इतने में विश्वासघातक भाटी वीर अपना

असली रूप धारण कर और हाथों में नंगी तलवारें लेकर इने-गिने शरीररक्षकों से घिरे चूड़ा के ऊपर टूट पड़े। चूड़ाजी उन इने-गिने सैनिकों के बल पर, उन सहस्रों प्रचंड भाटी वीरों के सामने कैसे रुक सकते थे! उन्होंने उस गाढ़े समय में सोचा कि यदि मैं नगर के तोरण द्वार के भीतर पहुँच सकूँ, तो किसी प्रकार मेरी रक्षा हो सकती है। पर उनका यह विचार उनके मन ही में रह गया। वे अपने शत्रुओं से लड़ते भिड़ते नगर-द्वार तक पहुँच भी न पाए थे कि उनका सारा शरीर तलवारों के घावों से निकले हुए रक्त से लाल हो गया। उनके शरीर-रक्षक सैनिकों में से अनेकों ने अपने स्वामी की रक्षा करते हुए प्राण त्यागे। इतने में शरीर से बहुत सा रक्त निकल जाने के कारण चूड़ा नगर-द्वार के पास पहुँचकर गिर पड़े।

विश्वासघातक पाखंडी भाटी वीर अपनी इस निंद्य करतूत पर प्रसन्न होते हुए तथा वीरनाद करते हुए, निम्नगा पहाड़ी नदी के प्रचंड-प्रवाह की तरह, नागौर नगर में घुसे। राज-राजेश्वर चूड़ा का शरीर उनके पैरों के नीचे कुचला गया, उनकी ओर किसी ने एक बार देखा तक नहीं।

आपस के ईर्ष्या-द्वेष से इस प्रकार राठौर का एक चमकता हुआ नक्षत्र सदा के लिये अस्त हो गया।

पृथ्वीराज और तारा

प्राचीन तक्षशिला नगरी, जो अब तोड़ातंक नाम से प्रसिद्ध है, एक समय राय शूरथान के अधिकार में थी। कहते हैं कि लीलखाँ नाम के एक अफगान ने तोड़ातंक पर आक्रमण कर, राय शूरथान को वहाँ से निकाल दिया था। तदनंतर राय शूरथान ने तोड़ातंक छोड़ और बेदनौर नगर में रहकर सुख-दुःख झेलकर बहुत दिन काट दिए। बेदनौर ही में राय शूरथान के घर एक लड़की ने जन्म लिया। उसका नाम पड़ा ताराबाई। ताराबाई बड़ी रूपवती और बुद्धिमती थी। कहते हैं कि राय शूरथान जब मानसिक कष्टों से अत्यंत दुःख पाते, तब वे हृदयानंददायिनी कन्या के मुखकमल को देख, सारा कष्ट भुला दिया करते थे। तारा को भी वे सारे सुख प्राप्त नहीं हुए थे, जो एक राजकुमारी को बहुधा प्राप्त हुआ करते हैं। तारा राजकुमारी थी और सोलंकी कुल की कमलिनी थी। यद्यपि भाग्य-दोष से तारा के उच्च-कुल के पूर्वगौरव के चिह्न तक मिट गए थे, तथापि तारा को शूरथान अपने वंश के वीर पुरुषों की विमल कीर्ति-कथा प्रायः सुनाया करते थे। तारा जब बड़ी हुई, तब वह अपनी दशा को अपने पूर्वपुरुषों की दशा से मिलाने लगी। मिलान करते ही उसके सुकुमार हृदय में चिंता की चिता धधकने लगी।

फल यह हुआ कि ताराबाई स्त्रियों के आचार विचार, पहनाव, उढ़ाव के आडंबर से घृणा करने लगी। वह घोड़े पर सवार होने और तीरंदाजी करने का अभ्यास करने लगी। थोड़े ही दिनों के अभ्यास से तारा इन दोनों कामों में इतनी प्रवीणा हो गई कि भागते हुए घोड़े की पीठ पर सवार हो निशाना बेधने लगी। इसके इस अपूर्व हस्तलाघव और विक्रम को देख बड़े बड़े धनुर्विद्या-विशारदों का माथा नीचा हो गया। अनेक मुसलमान तारा के तीरों का निशाना बन कब्र में सो गए। धीरे धीरे तारा की कीर्ति-कौमुदी राजस्थान भर में फैल गई। अनेक राजपूतों को इस कन्यारत्न को हस्तगत करने की उत्कंठा उत्पन्न हुई, पर शूरथान की प्रतिज्ञा सुन प्रायः सभी राजपूत हताश हो गए। राय शूरथान की यह प्रतिज्ञा थी कि—"जो राजपूत तोड़ातंक का उद्धार कर सकेगा, तारा उसी के साथ ब्याही जायगी।" इतिहास-प्रसिद्ध जयमल्ल तारा के साथ विवाह करने के लिये बेदनौर पहुँचा; और तारा के सामने उसने अपनी इच्छा प्रकट की। जयमल्ल की बात सुन तारा ने बड़े दर्प से उत्तर दिया—"पहले आप तोड़ातंक का उद्धार कर आइए, पीछे मेरे साथ विवाह कीजिएगा।" यह सुन पहले तो जयमल्ल इस पर राजी हुआ, पर पीछे रूपांतर से अपनी कुवासना को मिटाने के लिये यत्न करता हुआ, राय शूरथान के हाथ से मारा गया। इतिहास-लेखकों ने इस घटना पर टिप्पणी करते हुए ठीक ही लिखा

है कि—"जयमल्ल के भाग्याकाश के लिये तारा अनुकूल तारा नहीं हुई।"

तब जयमल्ल के मारे जाने का संवाद सुन पृथिवीराज बेदनौर गया। उस समय पृथिवीराज अपनी वीरता और साहस के कारण राजपूताने में घर घर प्रसिद्ध हो गया था। राय शूरथान ने वीर पृथिवीराज का वीरोचित स्वागत किया। चित्तहारिणी तारा पृथिवीराज की वीरता का हाल सुन पहले ही अपने मन में, आत्मसमर्पण कर चुकी थी। वही चित्तहारिणी तारा स्वयं पृथिवीराज के सामने गई। परस्पर साक्षात्कार होने पर, दोनों के हृदय में अनेक प्रकार की आशाएँ और चिंताएँ उदित हुईं। पृथिवीराज अपनी आशा का वृत्तांत सुना, राय शूरथान से बोले—"आप कुछ भी चिंता न करें। मैं शीघ्र ही तोड़ातंक से मुसलमानों को निकाल दूँगा। आप देखेंगे कि एक सप्ताह के बाद वहाँ मुसलमानों का नाम भी न रहेगा।"

बेदनौर से बिदा होने के समय पृथिवीराज तारा से मिले। उस समय उन्होंने तारा से कहा—"सुचंद्राननी! तुम्हारी प्राप्ति की आशा ही से मैं ऐसे दुस्साहस के काम में हाथ डालता हूँ। देखना, कहीं तुम्हारी ओर से उस आशालता पर पाला न पड़ जाय।" इस पर तारा कहने लगी—"हे वीरवर! यह हृदय आपका है। अनेक कष्टों और दुःखों को झेल कर भी यह अब तक आप ही की आशा से स्थित है। अब कहना यही है कि आपने जिस कठोर व्रत को आरंभ

किया है, उसका उद्यापन भली भाँति शीघ्र कर डालिए। दुराचारी यवनों का संहार कर, यथार्थ राजपूत होने का परिचय दीजिए।"

महीना मोहर्रम का था। मुसलमान अपने पूर्वपुरुषों का अनुकरण करने में लगे हुए थे। पृथिवीराज ने इस अवसर को अपने अनुकूल समझा। पाँच सौ चुने हुए सवारों को साथ ले पृथिवीराज तोड़ातंक की ओर रवाना हुए। वीरनारी तारा भी उनके साथ हो ली। जब रणचंडी स्वयं पुरुषवेश धारण कर यवनों का संहार करने को आज युद्धक्षेत्र की ओर प्रस्थानित हुई है, तब यवनों की कौन रक्षा करेगा! जिस समय राजपूतों ने तोड़ातंक में प्रवेश किया, उस समय मुसलमान महासमारोह के साथ, अपने ताजियों को किले के बाहर निकाल रहे थे। राजकुमार भी अपने साथियों सहित उन्हीं में जा मिले। इससे मुसलमानों को संदेह का विशेष कारण न देख पड़ा। धीरे धीरे ताजिए बादशाह के महलों के समीप पहुँचे। वस्त्रालंकार से सज धजकर यवनराज महल के बरामदे में खड़ा था। अनजाने सवारों को देख उसके मन में अनेक प्रकार के संदेह उत्पन्न हुए। वह इन सब के नाम धाम पूछने ही को था कि इतने में वीर नारी तारा ने अपने अचूक तीर से यवनराज को धराशायी कर दिया। शोक मनाते हुए मुसलमानों के सिर पर यवनराज के मारे जाते ही शोक का पहाड़ टूट पड़ा। उस नगर के निवासी यवन हाहाकार

करने लगे। किंकर्तव्य-विमूढ़ हो वे इधर उधर भागने लगे। तब पृथिवीराज ने उनके सैनिकों का संहार करना आरंभ किया। मारकाट करते वे लोग नगर के तोरणद्वार तक पहुँच गए। वहाँ पर एक मतवाला हाथी द्वार का मार्ग रोके खड़ा था। तारा ने एक विशाल फरसे के आघात से उसकी सूँड़ उड़ा दी। तब तो वह हाथी दारुण पीड़ा से पीड़ित हो और चिंघारता हुआ वहाँ से भागा। उधर प्राणों की ममता छोड़ मुसलमान भी भीम विक्रम से राजकुमार की छोटी सी सेना पर आ टूटे। घोर संग्राम हुआ। राजपूतों के प्रतिवेग को न सहकर यवन मोरचे छोड़कर इधर उधर भागने लगे। पर अब इन अभागों को संसार में कहाँ आश्रय मिल सकता था! अतः वे सब उन राजपूतों के हाथ से मारे गए।

जिन दुष्ट मुसलमानों ने तोड़ातंक की भूमि को अपने संस्पर्श से अपवित्र कर रखा था, वे सब मारे गए। पृथिवी-राज के द्वारा तोड़ातंक में पुनः हिंदुओं का राज्य स्थापित हुआ; और साथ ही साथ पूर्व प्रतिज्ञानुसार राय शूरथान ने अपना हृदयरत्न और वीरनभमंडल का चमकता हुआ तारा, शुभ लग्न में पृथिवीराज को अर्पण किया।

मान-रक्षा

जिस समय दिल्ली के सिंहासन के लिये लोदीवंशियों में परस्पर झगड़ा हो रहा था, उस समय मारवाड़ का सिंहासन यवनों की दुष्ट दृष्टि से बचा हुआ था। क्योंकि घर ही के विग्रह में लिप्त रहने के कारण लोदियों को अन्य राज्यों को हस्तगत कर दिल्ली का राज्य बढ़ाने का अवसर ही न मिला। तिस पर भी मुसलमान अपने पड़ोसी हिंदू राजाओं को भली भाँति सुख-शांति से दिन व्यतीत करते नहीं देख सकते थे। देखना ही नहीं, बल्कि उनके मन में हिंदू राजाओं को सुख से रहते देख डाह पैदा होती थी। यही कारण था कि मुसलमान बादशाहों की अनुमति के बिना भी उनके हिंदू-द्वेषी सेनापति समय समय पर हिंदू नरेशों के राज्यों पर अकारण ही छापा मारते और हिंदू प्रजा पर अत्याचार किया करते थे। उनके इस हिंदू-द्वेष का एक उदाहरण हम नीचे उद्धृत करते हैं।

सन् १५१६ ई० के श्रावण मास के शुक्ल पक्ष की तृतीया को, जिसे हिंदू पार्वती तृतीया कहते हैं, पोपार नामक जनपद में एक महोत्सव मनाया जा रहा था। उस महोत्सव में मारवाड़ की अनेक बस्तियों से अनेक राजपूत स्त्रियाँ, भगवती गौरी की पूजा करने आई थीं। उसी समय उस तीज के दिन पठानों के एक दल ने, महोत्सव मनाती हुई उन

राजपूत स्त्रियों पर छापा मारा और १४० कुमारियों को पकड़कर ले गया। उसके इस पैशाचिक कृत्य में कोई बाधा न डाल सका। पर ज्योंही यह समाचार तत्कालीन जोधपुरनरेश सूजा ने सुना, त्योंही मारे क्रोध और हिंसा के उसके शरीर से चिनगारियाँ निकलने लगीं। वह उन १४० हिंदू कुमारियों को उस दुष्ट के पंजे से छुड़ाने के लिये विकल हुआ। अधिक सेना के तैयार करने में विलंब होने की आशंका से वह अपने इने-गिने साथी सिपाहियों को साथ ले उन दुष्ट पठानों को उनके कुकृत्य का दंड देने के लिये उनके पीछे दौड़ा। पीछा करते करते अंत में उसने उन पठानों को जा धरा। उन्हें देखते ही सूजा के क्रोध की सीमा न रही। सिंह जैसे अपने बच्चे को हरा हुआ देख, बड़े वेग से हरनेवाले पर लपकता है, वैसे ही आज मारवाड़ाधिपति सूजा ने कुमारियों के हरनेवाले उन दुष्ट पठानों पर आक्रमण किया। देखते देखते दोनों दलों में घोर युद्ध होने लगा। कुछ ही देर के युद्ध के उपरांत सूजा ने उन दुष्टों के हाथ से हिंदू कुमारियों को छुड़ा लिया। इस युद्ध में सूजा जीता।

यद्यपि सूजा ने अपना संकल्प पूरा कर लिया, तथापि वह इस युद्ध में ऐसी बुरी तरह घायल हुआ कि वह स्वयं इस संसार में अधिक काल तक जीवित न रह सका। राजपूत कुमारियों का उद्धार कर चुकने के कुछ ही क्षणों के बाद वह

भी रणभूमि में गिर पड़ा और वीरगति को प्राप्त हुआ। मरने के पहले वे १४० हिंदू कन्याएँ, उसको घेर जिस समय उसकी वीरता के गीत गाने लगीं, उस समय उसके आनंद की सीमा न रही। उस असीम आनंद का अनुभव करते करते वीर सूजा के प्राण अनंत सुखमय अमरधाम को सिधारे।

राव सूजा की इस असीम वीरता का वर्णन आज भी राजस्थान के भाटों के मुख से सुना जाता है। आज भी उसी पार्वती तृतीया के मेले में इस मारवाड़ी राजा की वीरता और महत्व के गीत उत्साहपूर्वक गाए जाते हैं।

उद्दंड अमरसिंह और उसका साहस

राजपूत जाति स्वभाव ही से प्राचीन संस्कारों की वश-वर्तिनी है। इस जाति के लोग कभी कभी अपने पूर्वपुरुषों के आचारों एवं व्यवहारों के विरुद्ध भी आचरण किया करते हैं। इस जाति का इतिहास साक्षी देता है कि इस समाज में कभी कभी उत्तराधिकार की प्रथा में बड़े हेर फेर भी हो जाया करते हैं। राठौर जाति के इतिहास में इस प्रथा के हेर फेर के दो तीन उदाहरण विद्यमान हैं। उनमें से एक का उल्लेख हम यहाँ करते हैं।

मारवाड़ की राजगद्दी के अधिपति गजसिंह के दो पुत्र थे। गजसिंह के जेठे पुत्र का नाम था अमर। अत: राजपूत जाति की चिर-प्रचलित प्रथानुसार अमर ही को मारवाड़ की राजगद्दी का उत्तराधिकारी होना चाहिए था; किंतु गजसिंह ने उसे राजगद्दी का उत्तराधिकारी न बनाकर उसके छोटे भाई यशवंतसिंह को युवराज के पद पर प्रतिष्ठित किया। इसका विशेष कारण इतिहासकार ने यह बतलाया है कि अमरसिंह प्रचंड, उद्धत और उत्कट स्वभाव का युवक था। अपने इस निंद्य स्वभाव के कारण ही अमर मारवाड़ की प्रजा का विराग-भाजन बन गया था। अमर में लोगों को ऐसा कोई

राज्योचित विशेष गुण भी न मिला, जिसके लिये वह मारवाड़ के पचास हजार राठौरों का मुकुट बनाया जाता। ये सब बातें तो थीं, पर अमर साहसी और पराक्रमी अवश्य था। उसकी तेजस्विता और पराक्रम के सामने उसके वैरी तिनके की तरह जल जाते थे। दक्षिण प्रांत के युद्धों में अमर ने अपने पिता के साथ रहकर विशेष वीरता का परिचय दिया था। यहाँ तक कि वह सब युद्धों में अपनी सेना के आगे हाथ में तलवार लेकर शत्रु के सामने जाता था। अमरसिंह सारे विग्रहों का नेता, युद्ध में निर्भीक और रणकला में कुशल था। पर वह इन गुणों का अनुचित रीति से प्रयोग करने लगा था। उसने अपने जैसे स्वभाववाले कतिपय लोगों का एक गिरोह बना लिया था और उनकी सहायता से पिता के सुख-शांतिमय राज्य में दंगा फसाद मचाया करता था। उसके अत्याचारों से मारवाड़ की प्रजा का नाकों दम आ गया था। अंत में वहाँ की प्रजा के विशिष्ट जनों ने मिलकर अमर की शिकायत मारवाड़ाधिपति, उसके पिता, गजसिंह से जाकर की। प्रजाहितैषी महाराज गजसिंह ने अपनी प्रजा के सुख के सामने पुत्रस्नेह को तुच्छ समझा और भविष्य में राज्य की मंगल-कामना के लिये अमर को युवराज पद से च्युत कर दिया।

एक दिन गजसिंह ने मारवाड़ के समस्त सामंतों और शूरों को सभा में आमंत्रित कर, उन सब के सामने अमर को अपने उत्तराधिकार पद से च्युत कर दिया।

गजसिंह ने राजसिंहासन के ऊँचे मंच पर बैठकर और निस्तब्धता भंग कर गंभीर स्वर से कहा—"आज अमर-सिंह उत्तराधिकारी के पद से पृथक् किया गया। वह अब मारवाड़ का राजा न हो सकेगा। मारवाड़ का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई यशवंत नियुक्त किया जाता है। अमर-सिंह को निर्वासन-दंड दिया जाता है। वह अभी हमारे राज्य की सीमा के बाहर चला जाय।"

इस राजाज्ञा के उद्घोषित होते ही उस राज्य के प्रथानुसार अमर को देश-निकाले की पोशाक दी गई। अमर ने काले रंग का पायजामा, काले रंग का अँगरखा पहना। सिर पर काली टोपी लगाई। पीठ पर काली ढाल और कमर में काले म्यान में रखी तलवार धारण की। तदुपरांत काले रंग के घोड़े पर चढ़ अमर उसी क्षण पितृराज्य की सीमा को छोड़ चल दिया। जाते समय उसने न तो किसी की ओर देखा और न अपने साथ चलने का किसी से अनुरोध ही किया।

तिस पर भी अनेक शूर सामंत, जो उसे मारवाड़ का भावी राजा मान चुके थे, दरबार छोड़ उसके साथ हो लिए। अमर अपने उन सरदारों को लिए हुए बादशाही दरबार में पहुँचा। अमर के प्रति उसके पिता ने जो उचित व्यवहार किया था, उसका समर्थन यद्यपि बादशाह कर चुका था, तथापि निराश्रित राजकुमार अमर को अपनी शरण में आया देख बादशाह ने उसके साथ अच्छा बरताव किया और उसे

अपनी सेना का सेनापति बनाया। अमर बड़ा पराक्रमी और युद्ध-कला में कुशल था। उसने अपने कार्य्यों से बादशाह को अपने ऊपर प्रसन्न कर लिया। बादशाह जिस पर प्रसन्न होता था, उस पर केवल शब्दों द्वारा अपनी प्रसन्नता ही प्रकट कर अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं कर दिया करता था। उसकी प्रसन्नता का कुछ फल भी हुआ करता था। अतः अमरसिंह भी बादशाह की प्रसन्नता के भाजन बन, तीनहजारी मनसबदार बनाए गए और साथ ही राव की उपाधि से अलंकृत किए गए; तथा नागौर का जिला उनके अधिकृत कर दिया गया। जो सज्जन होते हैं, वे सम्मानित होने पर अथवा उच्च पद पर पहुँचकर नम्र होते हैं; पर जो सज्जन नहीं होते, उनकी उद्दंडता बढ़ती है और उनकी बढ़ी हुई उद्दंडता ही उनके नाश का कारण होती है। अमरसिंह का जैसा स्वभाव देश-निकाले के पूर्व था, वैसा ही अब भी बना हुआ था। उसके स्वभाव में तिल भर भी कमी नहीं हुई थी, प्रत्युत उच्च अधिकार प्राप्त कर उसकी उद्दंडता की मात्रा बढ़ गई थी। वह अपने कर्तव्य की ओर ध्यान न देकर उच्छृंखल हो गया था। यहाँ तक कि एक बार वह शिकार में जाकर, पंद्रह दिनों तक दरबार से गैरहाजिर रहा। इस गैरहाजिरी के लिये शाहजहाँ ने उसको धमकाया और जुरमाने का भय दिखलाया; तब भी अमर कुछ भी नम्र न हुआ। प्रत्युत बादशाह के सामने ही धीर और अकंपित स्वर से उत्तर देते हुए कहा—"मैं

शिकार खेलने राजधानी से बाहर गया था। इसी से मैं दरबार में हाजिर न हो सका।" यह कह और अपनी तलवार छूकर अमर ने इतना और कहा—"आप मुझ पर जुरमाना करना चाहते हैं तो कर दीजिए; पर मेरा धन तो यह तलवार मात्र है।"

अमर की इस दुर्विनीत उक्ति को सुनकर, शाहजहाँ क्षुब्ध हुआ और जुरमाना वसूल करने के लिये उसने बख्शी सलाबतखाँ को अमर के घर भेजा। सलाबतखाँ ने अमर के घर पर जाकर कटु वचन कहकर जुरमाना माँगा। बस फिर क्या था! अमर उसके ऐसे अनुचित व्यवहार से आपे में न रहा और क्रोध में भर बख्शी से सामने से चले जाने को कहा। जुरमाना देना भी अस्वीकृत किया। इस प्रकार कर्मचारी के अपमानित किए जाने को शाहजहाँ ने अपना अपमान समझा और तुरंत ही अमर को अपने सामने बुलवाया।

बादशाह के निर्देशानुसार अमर तत्क्षण ही आम खास में जा पहुँचा। उस समय शाहजहाँ की आकृति से क्रोध झलक रहा था। उनके पास ही सलाबतखाँ हाथ जोड़े खड़ा था। उसे देखते ही अमर को क्रोध आ गया। उसके शरीर के भीतर नसों में उष्ण रक्त प्रवाहित होने लगा। उसके रोम रोम से चिनगारियाँ निकलने लगीं। उस समय वह आगे पीछे का ध्यान छोड़, अनेक पंजहजारी और हफ्तहजारी मनसबदारों के बीच से निकल सम्राट् के पास लपककर जा

पहुँचा। लोगों ने समझा, अमर बादशाह से कुछ कहने गया है; परंतु उसने पास पहुँच, बादशाह के पास खड़े सलाबत के कलेजे में झट छुरी घुसेड़ दी, जिसके आघात से वह निर्जीव हो धड़ाम से पृथिवी पर गिर पड़ा। बादशाह यह अभूतपूर्व कांड देखकर भय की आशंका से तख्त छोड़ महल के भीतर भाग गया। उस समय आम खास में बड़ी हलचल मच गई। अमर की भयानक संहार मूर्ति देखकर दरबारी इधर उधर भागने लगे। उस राजपूत की बिजली की तरह चमकती हुई तलवार के सामने जो पड़ जाता, वह उसी पर पड़कर उसे तुरंत लोकांतरित कर देती थी। देखते देखते पाँच उच्च-पदाधिकारी मुगल सेनापति अमर की तलवार के शिकार हुए। आम खास नर-शोणित से आर्द्र हो गया। तिस पर भी उस राठौर वीर का क्रोध शांत न हुआ। अंत में उसके साले अर्जुनगोर ने बादशाह को प्रसन्न करने के लिये अमर पर वार किया, जिससे अमर धराशायी तो हुआ, किंतु जब तक उसके शरीर में प्राण रहे, तब तक उसकी तलवार चलती ही रही। अंत में आम खास ही में रक्त की कीच में सना, वह सदा के लिये निद्रित हो गया।

अमर के साथ ही इस हत्याकांड के दृश्य का अंतिम पटाक्षेप नहीं हुआ। अमर की इस शोच्य मृत्यु का बदला लेने के लिये उसके सरदारों ने अपने प्राणों को उत्सर्ग करने की प्रतिज्ञा की। उन्होंने जुहार व्रत के सूचक केसरिया वस्त्र पहने

श्रौर बड़े वेग से वे मुगलों पर टूट पड़े। बल्लू श्रौर भाऊ नाम के दो तेजस्वी राजपूत उस छोटी सी सेना के नेता बने। देखते ही देखते आगरे के लाल किले के भीतर इन इने गिने राजपूतों की वीरता से एक वीभत्स कांड के अभिनय का सूत्र-पात हुआ। युद्ध-विशारद दल के दल यवन सैनिक उस मुट्ठी भर राजपूत सेना पर आक्रमण करने लगे। अस्त्रों की झनकार श्रौर वीरों के सिंहनाद से सारा आगरा नगर प्रतिध्वनित हो उठा। कुछ देर के बाद यह घोर उपद्रव शांत हुआ। वे थोड़े से राजपूत असंख्य यवन सेना द्वारा मार डाले गए। तदनंतर अमर की विवाहिता स्त्री, जो बूँदीराज की दुहिता थी, रंगस्थल में उपस्थित हुई श्रौर अपने पति के मृत शरीर को उठा ले गई। फिर एक चिता बनाकर श्रौर स्वामी के मृत शरीर को गोद में रखकर वह सती हो गई।

यद्यपि अमर के विश्वासी श्रौर प्रभु-भक्त सरदारों को अपने स्वामी के लिये प्राणोत्सर्ग किए बहुत दिन हो चुके हैं, तो भी उनकी अप्रतिम राजभक्ति, उनके आत्मोत्सर्ग श्रौर वीरता का प्रकाशित चित्र आज भी आगरे के दुर्ग के खंभों पर चित्रित है। समय के सुविशाल ग्रंथ से इस चित्र को न तो कोई हटा सका श्रौर न कोई हटा ही सकता है। लालबुखारा नामक जिस सिंहदरवाजे से अमर उस किले के भीतर गए थे, वह ईंटों से चुनवाकर बंद कर दिया गया था श्रौर उसी दिन से उसका नाम बदलकर, अमरसिंह फाटक रखा गया। यह द्वार

बहुत दिनों तक बंद रखा गया था, किंतु सन् १८०९ ई० में इसे जार्ज स्टील नामक एक अँगरेज ने खोल दिया* ।

---

* इस फाटक के खोले जाने के बारे में स्टील साहब ने टाड साहब से कहा था कि जब वे अमरसिंह नामक फाटक खुलवाने लगे, तब नगरवालों ने उनके काम में बाधा देकर कहा था—"आप इसको न खुलवाइए, इसमें एक बड़ा भारी अजगर सर्प इसका रक्षक बनकर रहता है। फाटक खोलने पर निश्चय ही आपको विपत्ति झेलनी पड़ेगी।" स्टील साहब ने लोगों की इस बात को उनका मूढ़ विश्वास समझा और कुछ भी ध्यान न दिया। पर जब फाटक तुड़वाते तुड़वाते थोड़ा सा रह गया, तब सचमुच एक अजगर निकला जिसने स्टील साहब पर बड़े वेग से आक्रमण किया। उस समय साहब यदि भागकर अपनी रक्षा न करते, तो अवश्य ही उन्हें काल के गाल में गिरना पड़ता।

नाहरखाँ की वीरता

नाहरसिंह का असली नाम मुकुंददास था और वे प्रसिद्ध कुंपावत संप्रदाय के नेता थे। वे तत्कालीन सब राठौर क्षत्रियों में श्रेष्ठ समझे जाते थे। उनकी भूमि आदि संपत्ति अशेष थी। मुकुंददास को नाहरसिंह की उपाधि क्योंकर मिली थी, इसका हाल नीचे लिखा जाता है।

ये अपने स्वामी मारवाड़ाधिपति यशवंतसिंह के साथ औरंगजेब के यहाँ रहते थे। एक दिन एक अहदी के द्वारा बादशाह ने इनके पास एक पैगाम भिजवाया। उस पैगाम के उत्तर में निर्भीक हो मुकुंददास ने अपमानजनक कुछ शब्द कहे। इसलिये बादशाह उन पर अप्रसन्न हुए। उन्हें दंड देने के लिये बादशाह ने मुकुंददास को एक प्रचंड व्याघ्र के पिंजरे में नंगे बदन और बिना हथियार लिए जाने की आज्ञा दी।

इस कठोर आज्ञा को सुनकर भी तेजस्वी मुकुंददास तिल भर भी विचलित न हुए, बल्कि हँसते हुए उस प्राण-संहारकारी व्याघ्र के पास चले गए। पिंजरे के भीतर उन्होंने देखा कि व्याघ्र सगर्व पैतरे बदलता हुआ इधर उधर घूम रहा है। उसके सामने पहुँचते ही मुकुंददास ने उसे संबोधन करके कहा—"रे मुसलमान के व्याघ्र! आ. यशवंत के व्याघ्र का

सामना कर।" उस समय मुकुंददास के नेत्रों से क्रोध के मारे आग की चिनगारियाँ निकल रही थीं। मुकुंददास की ऐसी भयानक आकृति और गगनविदारी ललकार सुनकर वह बाघ चौंका और पूँछ उठा तथा दहाड़ मारता हुआ अपने शत्रु की ओर ताकने लगा। अग्नि से प्रदीप्त चारों नेत्र आमने सामने हुए। इसके कुछ ही क्षणों के बाद बाघ मुख फेरकर मुकुंददास के सामने से चला गया। बाघ को भागते देख उस पराक्रमी राठौर सरदार ने चिल्लाकर कहा—"देखो, देखो, हिम्मत बाँधकर भी यह बाघ मेरा सामना न कर सका और युद्ध-विमुख शत्रु का पीछा करना क्षत्रियधर्म के विरुद्ध है।"

इस अनोखी घटना को देखकर सब लोग वज्राहत के समान खड़े रहे। यहाँ तक कि औरंगजेब का पत्थर जैसा सख्त कलेजा भी पसीज उठा। उसी समय से उसने उनका नाम "नाहरखाँ" रख दिया और बहुत सा पुरस्कार भी दिया। फिर बहुत प्रसन्न होकर पूछा—"राठौर! इस असीम बाहु-बल के अधिकारी होने के कारण तुम्हारे कितने पुत्र उत्पन्न हुए?" इसके उत्तर में नाहरखाँ ने मुसकराकर उत्तर दिया—"बादशाह सलामत! जब आपने मुझे मेरे परिवार से अलग कर अटक के पार पश्चिमी सीमा प्रांत की ओर भेज दिया, तो मेरे किस प्रकार पुत्र हो सकते हैं?"

तेजस्वी मुकुंददास का यह निर्भयतापूर्ण वाक्य सुनकर सभी चमत्कृत हुए। बादशाह मन ही मन शर्माया, किंतु उस

समय कुछ कहा नहीं। मुकुंददासजी को नाहरखाँ की उपाधि इस प्रकार मिली थी।

मुकुंददास स्पष्ट-वक्ता थे। उन्हें इस बात की परवाह न थी कि स्पष्ट बात कहने से उनसे कोई अप्रसन्न हो जायगा। एक बार इन्हीं मुकुंददास से शाहजादे परवेज ने कहा—

"राठौर वीर ! मैंने आपकी रणकुशलता की बड़ी प्रशंसा सुनी है, किंतु मैं आपका एक करतब देखना चाहता हूँ। क्या आप घोड़े को सरपट दौड़ाते हुए, उस दौड़ते हुए घोड़े की पीठ पर से पेड़ की एक लंबी डाली को पकड़ झूल सकते हैं ?"

शाहजादे के इस प्रश्न के उत्तर में मुकुंददासजी ने सगर्व उत्तर दिया—"मैं बंदर नहीं हूँ, राजपूत हूँ। राजपूतों के करतब तलवार के अधीन हैं। मेरे जोड़ का शत्रु मिलने पर, मैं आपको तलवार का करतब दिखला सकता हूँ।"

शाहजादे ने जो चाहा था, वह न हुआ; इसलिये वह अत्यंत क्रुद्ध हुआ। किंतु खुलकर उसने कुछ भी न कहा। साथ ही मुकुंददास के सर्वनाश की कामना से उसने उन्हें सिरोही के देवड़ा राजा सुरतान के विरुद्ध भेजा। वीर नाहरखाँ इससे कुछ भी न भयभीत हुए, बल्कि दूने उत्साह के साथ वे शाहजादे का आज्ञापालन करने में प्रवृत्त हुए। इस युद्ध में वे अपने साथ राठौरराज की समस्त सेना ले गए।

मुकुंद के युद्ध की तैयारियों का हाल सुन, सुरतान ने युद्ध का विचार छोड़ अपने अभेद्य दुर्गम गिरिदुर्ग में आश्रय लिया।

उसने सोचा था कि इस दुर्गम स्थान तक शत्रु का आना असंभव है। अतः वह निर्भय हो वहाँ आराम करने लगा। किंतु राठौर वीर मुकुंददास के प्रचंड विद्वेषानल ने उसके रक्षित घर में भी तुरंत प्रवेशकर उसको झटपट भस्म कर डाला।

एक दिन सुरतान रात्रि के समय अपने किले के भीतर निश्चिंत हो सो रहा था। समस्त किले में सन्नाटा छाया हुआ था। केवल एक ओर एक पहरुआ किले की दीवार पर खड़ा थोड़ी थोड़ी देर बाद चिल्लाया करता था। कभी कभी बीच बीच में सियारों का चीत्कार सुन पड़ता था। ऐसा सुअवसर पाकर मुकुंददास ससैन्य किले पर चढ़ गए; और उस पहरुए को मारा और सुरतान के शयनागार में घुस, उसी की खुली पड़ी पगड़ी से उसे खाट सहित बाँध, अपने सैनिकों को सौंप दिया। जब राठौर सेना सुरतान को बाँधकर ले चली, तब मुकुंद ने बड़ा भारी शब्द किया। उनके उस मेघ के समान गंभीर गर्जन को सुन सारा किला प्रतिध्वनित हुआ। किले की सेना जाग उठी और अपने स्वामी को छुड़ाने के लिये यत्न करने लगी। तब मुकुंददास ने ललकारकर किले की रक्षक सेना से कहा—"देवड़ा सैनिको! खबरदार! तुम अपने स्वामी और अपने प्राणों को वृथा मत गँवाओ। अगर तुम मेरे कहने के अनुसार चलोगे, तो तुम्हारे स्वामी के अंग में काँटा तक न गड़ने पावेगा। मैं इन्हें एक बार राजा के पास भर ले जाऊँगा। यदि तुम न माने, तो अभी तुम्हारे राजा का

सिर मैं धड़ से अलग कर दूँगा। यह तुम खूब समझ लेना कि तुम्हारे राजा का मरना जीना मेरे हाथ है। मैंने तुम लोगों को इसलिये सजग किया है कि तुम देख लो कि मैं तुम्हारे राजा को किस प्रकार निर्विघ्न बंदी बनाकर लिए जाता हूँ।"

इन प्रभावोत्पादक वाक्यों को सुन शत्रुपक्ष के सैनिक मंत्रमुग्ध भयंकर सर्प की तरह जहाँ के तहाँ और ज्यों के त्यों खड़े रहे। मुकुंददास, सुरतान को पकड़, किले के बाहर निकले और राजा यशवंतसिंह के पास पहुँच सुरतान को उनके हवाले किया।

यशवंत ने सिरोहीराज को बादशाह के समीप ले जाने का इरादा प्रकटकर, उनको यह कहकर ढाढ़स बँधाया कि—"आपके गौरव सम्मान में कुछ भी अंतर न आने पावेगा। आप चलकर एक बार बादशाह से भेंट करें।" सिरोहीराज इस पर सहमत हुए। क्रमशः वे एक राजकर्मचारी के साथ राजमहल में पहुँचाए गए। राजमहल में ले जाने के पहले सिरोहीराज से एक कर्मचारी ने कहा—"देखो! बादशाह को सलाम करना मत भूल जाना; क्योंकि उनको सलाम किए बिना उनके पास कोई नहीं जा सकता।" इस पर सिरोही-राज ने जो बात कही, उससे पाठकों को पता चल सकता है कि प्राचीन काल के लोग कितने आत्माभिमानी और अपनी मर्य्यादा को जाननेवाले हुआ करते थे। सिरोहीराज बोले—

"अवश्य ही मेरा जीना-मरना इस समय बादशाह के हाथ है, किंतु मेरा मान, मेरी प्रतिष्ठा मेरे ही पास है। भाग्य में जो लिखा है, होगा

वही, किंतु मैं मनुष्य के सामने मस्तक कभी न झुकाऊँगा। इस जीवन में ऐसा कभी नहीं हो सकता।''

यशवंत ने प्रतिज्ञा की थी कि वह सिरोहीराज को कभी अपमानित न होने देंगे। उसी के अनुसार उन पर अधिक दबाव न डाला गया और बादशाह को सलाम करने की विधि यत्नपूर्वक रूपांतर में बदल दी गई। जिस मार्ग से प्रत्येक आदमी बादशाह से मिलने जाते थे, उस मार्ग से सिरोहीराज को न ले जाकर, उन्हें एक अति छोटी खिड़की से ले गए। वह खिड़की जमीन से घुटनों के बराबर ऊँची थी। उन चतुर कर्मचारियों का गूढ़ अभिप्राय न समझकर सिरोहीराज ने उसी खिड़की द्वारा दरबार में प्रवेश किया। उस खिड़की में से झुककर निकलना पड़ा था। उस समय का झुकना ही सिरोहीराज का सलाम करना समझा गया।

सिरोहीराज की तेजस्विता, उनका वीरोचित व्यवहार, उनकी निज स्वाधीनता की रक्षा का कठोर प्रयत्न और यशवंत की प्रतिज्ञा का हाल सुन, औरंगजेब ने उनको केवल क्षमा ही नहीं किया, किंतु उनके इच्छानुसार उन्हें जागीर भी देनी चाही। औरंगजेब जैसे हिंदूविद्वेषी बादशाह की उदारता और प्रसन्नता में भी गूढ़ रहस्य हुआ करता था, जिसे जान लेना हर एक का काम न था। उसका रहस्य देवड़ाराज झट ताड़ गए। उन्होंने झट समझ लिया कि औरंगजेब की यह उदारता उनको सामंत राजाओं में शामिल करने का उप-

क्रम मात्र है। इस विचार के उत्पन्न होते ही सुरतान ने निर्भीक होकर कहा—"बादशाह सलामत ! आप मुझे मेरे अचलगढ़ के समान और कौन सी उत्तम भूमि या रत्न दे सकते हैं ? इसलिये मुझे आपका और कुछ नहीं चाहिए। आप मुझे मेरा राज्य दे दें और मुझे वहाँ चले जाने दें।"

सिरोहीराज की इस उक्ति को सुन औरंगजेब ने उनकी बात मान ली और उन्हें आबू के किले को लौट जाने की आज्ञा दी। सुरतान अपने अचलगढ़ को लौट गया। उस दिन उस दरबार में बैठे हुए समस्त राजाओं के सामने उन्हें जो मान प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी, उससे वे सदा युक्त रहे। उनकी वह स्वाधीन-प्रियता आज तक उनके वंश में विद्यमान है।

नाहरखाँ की वीरता के प्रसंग में सिरोहीराज की चर्चा कर दी गई है। पर असल में नाहरखाँ की वीरता और स्पष्टवादित्व दिखाने ही के लिये इतना लिखा गया है।

वीरशिरोमणि तथा स्वामिभक्त दुर्गादास

"जननी सुत ऐसो जनैं, जैसो दुर्गादास ।
बाँध मुड़ासो राखियो, बिन खंभा आकास ॥"

कुटिलनीति-परायण औरंगजेब ने जब अपने मित्र यशवंतसिंह को काबुल की चढ़ाई पर भेज, उनके प्राण अपहृत कर लिए, तब उनकी दो रानियाँ तो उसी समय सती हो गईं, पर उनकी पटरानी को समझा बुझाकर लोगों ने सती होने से रोका; क्योंकि वे उस समय गर्भवती थीं। पति की मृत्यु के कुछ दिनों बाद यशवंत की विधवा पटरानी के गर्भ से एक बालक उत्पन्न हुआ, जिसका नाम सर्वसम्मति से अजितसिंह रखा गया। जब प्रसव का कष्ट दूर हुआ और रानी चलने फिरने योग्य हो गईं, तब राठौर सरदार राजपुत्र, उसकी माता तथा राजपरिवार के अन्य जनों को साथ ले जोधपुर जाने को तैयार हुए। किंतु दुष्ट औरंगजेब ने उनको राजी खुशी घर न जाने दिया। उस पापी ने यशवंतसिंह के एक मात्र पुत्र और उनके वंशधर अजित को छीन लेना चाहा। जिस समय राठौर सरदार परिवार सहित दिल्ली में पहुँचे, उस समय निर्दय मुगल सम्राट् ने उनको हुक्म दिया कि राजकुमार अजित को मुझे सौंप दो। उसने यशवंत के सरदारों को अनेक प्रकार के प्रलोभनों के जाल में फँसाकर, यशवंतसिंह के वंश का

मूलोच्छेद करना चाहा। पर औरंगजेब जानकर भी यह न जान पाया कि राठौर वीर लालच में फँस अपने राजकुमार को कभी शत्रु के हाथ न सौंपेंगे।

औरंगजेब के इस अनुचित प्रस्ताव को सुन राठौर सरदार बहुत बिगड़े। उन्होंने सगर्व कहा—"हमारी मातृभूमि की भक्ति हमारी हड्डी और मज्जा के भीतर तक घुसी हुई है और नस नस में भरी है। आज वे ही हमारी हड्डियाँ, मज्जा और नसें उस जन्मभूमि और हमारे राजा की रक्षा करेंगी।"

राठौर सरदारों और औरंगजेब के बीच ये बातें आम खास में हुई थीं। राठौर सरदार अंतिम बातें कर और आम खास छोड़ अपने डेरे पर आए। पर उनके डेरों को मुसलमान सेना ने तुरंत जाकर घेर लिया। पाखंडी औरंगजेब की इस विश्वासघातकता से राठौर वीर बहुत बिगड़े। पर क्रोध के वशवर्त्ती होकर सहसा कोई काम कर डालने से तो बना बनाया खेल मिट्टी हो जाने का भय था। अतः उन्होंने धैर्य-पूर्वक बालक राजकुमार की रक्षा का उपाय सोचा। उनको अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के सहारे राजकुमार की रक्षा का उपाय खोजते देर न लगी।

जो हिंदू उनसे भेंट करने जाते, उन्हें वे टोकरे भर भर-कर मिठाइयाँ देने लगे। टोकरों में भरकर मिठाई की बँटाई कई दिनों तक होती रही। अवसर पाकर एक दिन मिठाई के एक टोकरे में राजकुमार अजित को छिपाकर भी अपने

डेरे से बाहिर करने में वे समर्थ हुए। फिर राजकुमार की ओर से निश्चिंत हो वे सरदार अपने जातीय सम्मान की रक्षा के लिये उद्यत हुए। नियमित पूजा आदि के कृत्य से निश्चिंत हो सब ने साधारण मात्रा से दूनी दूनी अफीम खाई और अपने अपने घोड़ों पर सवार हुए। इन जातीय गौरव की रक्षा करने-वाले राठौर सरदारों में गोविंददास, दारावत, चंद्रभान, भारमल और रघुनाथसिंह ने रोष में भरकर अपने साथियों से कहा—

"राठौर वीरो! आज आपका राजानुग्रह भोग करना सार्थक होगा। आज ही जैसे गाढ़े दिन में अपने स्वामी और अपने पद की मान-मर्यादा की रक्षा करने के लिये इतने दिनों से आप जागीरें पा रहे हैं। आइए, आगे बढ़िए। हम भी आप लोगों के साथ हैं। हमने भी महाराज यशवंतसिंह का बहुत दिनों तक नमक खाया है। हम आज उस नमक को हलाल करेंगे। आज हम अपने अपने पिता के नामे की और उनके पद के गौरव की रक्षा करेंगे। हम स्वयं मृत्यु को आमंत्रित कर, निर्भय हो रणक्षेत्र में विचरण करेंगे। और आगे के कवि हमारा यश गावेंगे।"

इसके बाद वीर-शिरोमणि दुर्गादास ने कहा—

"हिंदुओं की हड्डी और मांस खाते खाते मुसलमानों की डाढ़ें बहुत पैनी हो गई हैं। पर अब उनका अंत समय भी समीप ही है। हम सब मिलकर आज उन्हें उनके कुकृत्यों का फल चखावेंगे। आज हमारी तलवारों से जो जलती हुई

बिजली जैसी लपटें निकलेंगी, उनसे समस्त दिल्ली भस्मसात् हो जायगी। आज दिल्लीवासी स्थिर चित्त से हमारी वीरता देखेंगे आज राजपूतों के रोषानल से मुसलमानी सेना भस्म होगी।"

राजकुमार के जीवन की रक्षा कर उन सरदारों को राजपूत स्त्रियों के सम्मान और गौरव की रक्षा की चिंता हुई। क्योंकि जब मुसलमान सेना उनके डेरे को चारों ओर से घेरे खड़ी है, तब वे किस प्रकार अपनी स्त्रियों को मुसलमान सैनिकों के अपवित्र स्पर्श से बचावें? यवन-स्पर्श की अपेक्षा हँसते खेलते मृत्युदेव की गोद का आश्रय ग्रहण करना राजपूत स्त्रियों का चिरप्रिय व्यसन है। अत: उसी के अनुसार एक कोठे में बारूद बिछवाकर, उस पर सब स्त्रियाँ बैठाई गईं। फिर उस कोठे के किवाड़ बंद कर, एक झरोखे से उस बारूद पर अग्नि छोड़ी गई। अग्नि के संयोग से देखते ही देखते सारी राजपूत स्त्रियाँ भस्म हो गईं!

अपनी स्त्रियों की ओर से निश्चिंत हो राजपूत वीर मुसलमानों के सामने हुए। हाथों में त्रिशूल लेकर राजपूत वीरों ने मुसलमानों पर भयानक आक्रमण किया। तलवारों की झनझनाहट और ढालों के चट चट शब्द से आकाश गूँज उठा। कुछ ही क्षणों के भीतर रणक्षेत्र में रक्त की धार से कीच हो गई। अंत में असंख्य मुसलमान सेना के साथ युद्ध कर इने-गिने राठौर वीर, अनेक शत्रुओं का संहार कर, सुरपुर सिधारे। एक मात्र वीरवर दुर्गादास, अपने शत्रुओं को मृत्यु-

शय्या पर सुलाकर और उनका गर्व चूर करके अपने गौरव की रक्षा करने में समर्थ हुए।

राजपूत यशवंत ने अपने सुख, अपने सगे संबंधी और यहाँ तक कि अपनी जन्मभूमि को छोड़कर औरंगजेब को अपना सर्वस्व समझ सुदूरवर्ती काबुल देश की यात्रा की थी। उनके मन में पूर्ण विश्वास था कि औरंगजेब हमें इस असीम आत्मत्याग का उचित पुरस्कार देगा। पर अब पाठको! विचारना यह है कि उन यशवंतसिंह को औरंगजेब ने क्या पुरस्कार दिया। उस दुष्ट ने इन अपने महोपकारी राजपूतों को जो पुरस्कार दिया, उसका स्मरण कर हृदय दहल जाता है। औरंगजेब ने यशवंत के ज्येष्ठ राजकुमार को कायर की तरह मारकर बूढ़े यशवंत के हृदय में शूल घुसेड़ा। इसी के विषमय आघात से बूढ़े यशवंत को अपने प्राण गँवाने पड़े। पर इतना करके भी दुष्ट की छाती ठंढी न हुई। वह इसकी भी फिक्र करने लगा कि पितृलोक में बैठे यशवंत को चुल्लू भर पानी देनेवाला भी कोई न बचने पावे।

पाठक! आप ही बतावें क्या उपकार का यही बदला है? क्या राज-धर्म की यह परिभाषा है? इस प्रकार का पिशाच हृदय रखकर क्या कोई राजा हो सकता है? जो राजा अपनी प्रजा के सुख दुःख की ओर नहीं देखता; जाति, वर्ण और धर्म-भेद से जो शासन-कार्य में भेद भाव रखता है, वह क्या राजा कहलाने की योग्यता रखता है? इन प्रश्नों के उत्तर में कहना

पड़ेगा कि कम से कम भारतवासी तो ऐसे नरपिशाच राजा को राजा कहना भी पाप समझते हैं; और वे ऐसे अयोग्य, पक्षपाती, अत्याचारी, प्रजापीड़क पापी राजा के सिर पर प्रहार करना भी राजद्रोह नहीं समझते।

अस्तु; हम अब दिल्ली के युद्ध को यहीं छोड़ राजकुमार अजित का हाल लिखते हैं। राक्षस औरंगजेब के हाथ से अजित ने छुटकारा पाया। लड्डुओं के एक टोकरे में अजित को छिपाकर और उस टोकरे को एक विश्वासपात्र मुसलमान को देकर, वह टोकरा नियत स्थान पर पहुँचवाया गया। प्रसंगवश हम इस मुसलमान की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते। हम इसे यदि लंका का विभीषण कहें तो भी अत्युक्ति न होगी। अवश्य ही इस मुसलमान को, जिसने औरंगजेब जैसे तास्सुबी बादशाह के राजत्व काल में एक हिंदू के मुकाबिले में सत्य और न्याय का पक्ष ग्रहण किया, हम देवता कह सकते हैं। अवश्य ही इस मुसलमान का हृदय बड़े बड़े गुणों से अलंकृत होगा। पर दुःख इतना ही है कि राजपूताने के भट्ट कवियों ने इस महोपकारी बंधु मुसलमान का नाम अपने ग्रन्थों में कहीं नहीं लिखा।

जो हो, जिस समय यह मुसलमान, राजकुमार को अपने सिर पर रखे हुए नियत स्थान पर पहुँचा, उसके थोड़ो ही देर बाद बचे हुए सरदारों को लिए हुए दुर्गादास भी वहाँ जा पहुँचे। अपने अमित भुजबल के सहारे ही दुर्गादास असंख्य

मुसलमानों के बीच से अपने साथियों सहित बच सके थे। उनकी तलवार की चोट से अनेक मुसलमान रणक्षेत्र में अनंत-कालीन निद्रा के वशवर्ती हुए थे। उनकी रौद्र मूर्ति को देख, बहुत से मुसलमान वीरों ने अपने आप रास्ता दे दिया था। उस समय दुर्गादास का शरीर घावों से निकले हुए रुधिर से लाल था। तिस पर भी एक क्षण के लिये भी वे कर्तव्य-पालन में शिथिल न थे। मंगलमय भगवान् उन पर प्रसन्न थे और उन्हें उनके इस कर्तव्य-पालन का उचित फल भी दिया गया। अर्थात् अजित जोधपुर की गद्दी पर उन्हीं की सहायता से बैठे। अजित ने भी उनके इस महोपकार का आजन्म आदर किया। साथ ही कृतज्ञ हिंदुओं के लिये यह बड़े हर्ष की बात है कि अजित ने उस मुसलमान के साथ अपना संबंध विच्छिन्न न किया, जिसकी कृपा से वे टोकरे में बैठकर मृत्यु के मुख से बच सके थे। वह महोपकारी मुसलमान जब तक जिया, तब तक अजित के साथ शरीर-रक्षक बनकर रहा और वे भी उसको "काका" कहकर संबोधन किया करते थे। गद्दी पर बैठकर अजित ने इस अपने "काका" का मान बढ़ाने के लिये जो जागीर दी थी, आनंद की बात है, वह जागीर आज तक उस मुसलमान के वंशधरों के अधिकार में बनी हुई है।

दुर्गादास अजित को ले अर्बुद पर्वत की तराई में पहुँचे और वहाँ अपने कतिपय विश्वस्त अनुगत राजपूतों के साथ राजकुमार को बड़े आदर के साथ पालने पोसने लगे। इस

प्रकार अज्ञातवास कर दुर्गादास ने पाखंडी औरंगजेब की कुदृष्टि से अजित की रक्षा की। परंतु आग की चिनगारी कपड़े के भीतर छिपाने पर भी नहीं छिप सकती। अतः थोड़े ही दिनों बाद राठौरों में यह किंवदंती फैल गई कि यशवंत का एक वंशधर अभी जीवित है और दुर्गादास उसकी रक्षा कर रहे हैं। इस समाचार के फैलते ही दल के दल राठौर राजपूत राजकुमार की खोज में निकले और घूमते फिरते अंत में आबू पर्वत की तराई में जा पहुँचे। वहाँ अपने भावी राजा को देख उनके आनंद की सीमा न रही।

वह शांतिमय आश्रम थोड़े ही दिनों बाद वीरों की निवास-भूमि बन गया। पर घटना-चक्र से वह आश्रम बहुत दिनों तक अपनी अनूठी छबि बनाए रखने में समर्थ न हो सका। इस बीच में रत्न नामक एक राठौर ने जोधपुर की गद्दी पर बैठने का यत्न किया। यह रत्न, अजित का चचेरा भाई और अमर का पुत्र था। अमर को उसके पिता ने जोधपुर से उसकी उद्दंड प्रकृति के कारण निकाल दिया था; और वह अपनी करतूत से जिस प्रकार शाहजहाँ के दरबार में मारा गया था, उसका हाल पाठक पहले पढ़ ही चुके हैं। रत्न इसी अमर का पुत्र था और औरंगजेब द्वारा उत्साहित होने पर रत्न ने जोधपुर लेना चाहा था। पर उसको यह चाहना पूरी न हो पाई। विश्वासी राठौर सरदारों ने प्राणपण से अजित के स्वत्व की रक्षा की और रत्न का मनोरथ सफल न होने

दिया। युद्ध में रत्न को हारना पड़ा और उसने भागकर नागौर के दुर्ग में अपने प्राण बचाए। तदनंतर अजित के शत्रु ईदा-वालों पर आक्रमण कर अजित के अधीनस्थ राठौर ने उन्हें मंडोर से निकाल दिया।

जब गुप्त रीति से अजित का नाश करने में औरंगजेब सफल न हो सका, तब वह सेना सजा अजित के विरुद्ध रणक्षेत्र में अवतीर्ण हुआ। एक बड़ी सेना साथ ले उसने जोधपुर पर चढ़ाई की और शीघ्र ही उस पर अपना अधिकार कर लिया। जोधपुर और उसके अंतर्गत मेरता, डीडवाना और रोहत की दुर्दशा की सीमा न रही। देवमंदिर, स्तंभ आदि गिरा दिए गए। देव-मूर्तियाँ खंड खंड करके मुसलमानों के पैरों तले कुचली गईं। उनके इस कार्य में जिन हिंदुओं ने बाधा डाली, उनमें से अनेक तो मार डाले गए; और जो बचे, उन्हें जबरदस्ती उन लोगों ने धर्मभ्रष्ट कर मुसलमान बना लिया। मारवाड़ के प्रत्येक गाँव और कसबे को नष्ट भ्रष्ट करके जल-वाना, फुकवाना ही औरंगजेब का उद्देश्य था। इन अत्या-चारों को प्रसन्नतापूर्वक करवा और हिंदुओं के ऊपर जजिया कर बैठा औरंगजेब अपनी राजधानी को लौट गया। पर इन अत्याचारों को रोकने के लिये भगवान् ने पहले ही शिशोदिया कुल में राजसिंह को उत्पन्न कर दिया था। राजसिंह ने राठौरों को मिलाकर किस प्रकार औरंगजेब को ध्वस्त किया, यह वृत्तांत हमारे पाठक राजसिंह के वृत्तांत में देख लें।

राजपूतों को ध्वस्त करने के लिये औरंगजेब ने तहव्वरखाँ और अपने पुत्र अकबर को ससैन्य राजपूताने में भेजा था। परंतु अकबर का हृदय अपने पिता औरंगजेब की तरह पत्थर का न था। उसके हृदय पर राजपूतों की वीरता, स्वामि-भक्ति और साहस का अच्छा प्रभाव पड़ चुका था। अतः उसने एक दिन अपने सेनापति तहव्वरखाँ से कहा—"ऐसे साहसी और विश्वासी सामंतों को मुगलों के स्नेह-बंधन से अलग कर बादशाह ने अच्छा काम नहीं किया"। इस उक्ति का प्रभाव तहव्वरखाँ के मन पर भी पड़ा और उसने भी राजपूतों के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट की। तदनंतर शाहजादे अकबर ने दुर्गादास के पास एक दूत भेजकर कहलाया—"राज्य में शांति स्थापित होनी चाहिए; अतएव एक बार राजपूतों को मुझसे मिलने की आवश्यकता है।"

दुर्गादास ने सब राठौर सरदारों को एकत्र कर शाहजादे का प्रस्ताव उपस्थित किया। प्रस्ताव उपस्थित होने पर उपस्थित सरदारों ने शाहजादे के प्रस्ताव को संदेह की दृष्टि से देखकर अनेक प्रकार के भय प्रदर्शित किए। अंत में तेजस्वी दुर्गादास ने कहा—"सरदारो! डरकर नाना प्रकार के संदेह तुम वृथा क्यों करते हो? मन में भय करना और डरना क्या वीरों का काम है? क्या राठौरों की भुजाओं में बल नहीं रहा? जब शत्रु स्वयं संधि करके हमसे मेल करना चाहता है, तब यदि हम उससे न मिलें तो वह हमें डरपोक समझेगा। शरीर

और हृदय में बल रहते हम क्यों कलंकित हों? आओ, सब मिलकर मुसलमानों के डेरे पर चलें। यदि उनकी ओर से दगा का कोई लक्षण देख पड़ा, तो क्या हम सब मिलकर उनको परास्त न कर सकेंगे? क्या कभी मनुष्य मेघ-माला को रोक रखने में समर्थ हुए हैं?"

दुर्गादास के इन वीरतापूर्ण वाक्यों को सुन राठौर सरदारों के मन ठीक हुए। वे सब राजकुमार अकबर से जाकर मिले। परस्पर हार्दिक भावों का परिवर्तन हो चुकने पर आगे के लिये कर्तव्य स्थिर किया गया। उसी समय अकबर के सिर पर राजछत्र शोभित हुआ। इसके बाद अकबर ने अपने नाम का सिक्का चलाया और सर्वत्र राज्य की सीमा ठीक की। मुगल साम्राज्य के श्रेष्ठ सामंतों ने उसे भारतेश्वर की पदवी दी।

जब यह संवाद औरंगजेब ने अजमेर में सुना, तब तो उसके ऊपर गाज सी टूट पड़ी। उसको अपने चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई देने लगा। दुर्गादास और अकबर का मेल उसके मन में काँटे की तरह चुभने लगा। धीरे धीरे यह संवाद सारे भारतवर्ष में फैल गया। सारे राठौर अकबर के झंडे के नीचे उसके स्वत्वों की रक्षा के लिये एकत्र हुए।

आज औरंगजेब को सब ने छोड़ दिया है; पर मक्कारी और आशा अब भी उसके दामन पकड़े हुए हैं। आज औरंगजेब अपनी इन चिर-सहचरियों की सहायता से इस विपत्ति से छुटकारा पावेगा।

उधर अकबर अगणित राजपूतों को लिए हुए अजमेर की ओर बढ़ा। औरंगजेब ने समझ लिया कि अब पिता पुत्र में घोर युद्ध होगा; अतः वह भी सतर्क हो बैठा। साथ ही इस ओर अकबर ऐसी विषम स्थिति में पड़कर भी ऐशो इशरत में अपने को भूल सारा सैन्य-भार तहव्वरखाँ को सौंप बेसुध हो गया। सच बात तो यह है कि मनुष्य भाग्य के हाथ का कठपुतला है; भाग्य डोरे में बाँधकर मनुष्यों को जैसे नचाता है, वे वैसे ही नाचते हैं। भाग्य के प्राबल्य से तहव्वरखाँ के मन में विश्वासघातकता की कल्पना उदय हुई। वह चुप-चाप छिपकर बादशाह औरंगजेब से रात में मिला। वहीं से उसने राठौरों को लिख भेजा—"आप लोगों के साथ बाद-शाह की जो संधि हुई थी, उसमें मैं ग्रंथि रूप था; किंतु जिस बाँध ने जल को दो हिस्सों में बाँध रखा था, वह अब टूट गया है। पिता पुत्र फिर मिलकर एक हो गए हैं। हमने मिलकर आपस में जो वादा किया था, उसका पूरा होना अब कठिन है। इसलिये मुझे आशा है कि आप लोग अब अपने देश को लौट जायँगे।" इस पत्र को लिफाफे में बंद कर तहव्वरखाँ ने उस पर अपनी मोहर की और एक विश्वस्त दूत के हाथ उसे राठौरों के पास भेज दिया। फिर पुरस्कार पाने की आशा से वह औरंगजेब के पास गया। उसने जैसा काम किया था, औरंगजेब ने उसे उसका वैसा ही फल भी दिया। उसके कृत्य के अनुसार ही उसे पुरस्कार भी मिला। वह बात भी न

कहने पाया था कि औरंगजेब ने अपने हाथ से उस दुष्ट विश्वासघातक का सिर काट डाला। उस दूत ने वह पत्र राठौरों को दिया और तहव्वर के मारे जाने का हाल सुनाया। तब राजपूत शिविर में उस समय बड़ी घबराहट फैली। वे झट अपने अपने घोड़ों पर चढ़ अकबर के खेमे से एक कोस के फासले पर जाकर टिके। राजकुमार के सैनिकों में इस संवाद के फैलते ही वे भी इधर उधर भागने लगे। इतना होने पर भी अकबर की मोहनिद्रा भंग न हुई। उस समय भी उसके खेमे में नाचने गाने की धूम मची रही।

पर जब अकबर को होश हुआ, तब वह अपनी भूल समझा और तहव्वर की उचित दुर्दशा का हाल सुन वह संतुष्ट हुआ। फिर वह अपनी भागी हुई सेना की खोज में निकला। उस समय उसके साथ एक हजार से भी कम मनुष्य थे। बहुत घूमने फिरने के बाद वह अपनी भागी हुई सेना के निकट पहुँचा। फिर वह अपनी सेना सहित अपने राजपूत मित्रों को खोजने लगा। जब वे मिले, तब आत्म-समर्पण कर उसने उनसे कहा—"मेरा रखना और मारना अब आप ही लोगों के हाथ है।" यह अधीनतापूर्ण बात सुनकर राजपूतों ने अकबर को फिर अपना लिया।

राजकुमार अकबर से मिलकर वीरवर दुर्गादास अपनी और अकबर की सेना को साथ ले औरंगजेब के पीछे पड़े। उनका अनुमान था कि लूनी नदी के किनारे पर औरंगजेब

पर आक्रमण करने का अवसर हाथ आवेगा। पर औरंगजेब दुर्गादास को भी लोभ दिखाकर, उनका सर्वनाश करना चाहता था। उसने आठ हजार मोहरें दुर्गादास के पास भेजीं, जो दुर्गादास ने तुरंत अकबर के सामने जाकर रख दीं। इससे अकबर, दुर्गादास पर बहुत प्रसन्न हुआ और उस धन को अपने सरदारों और सेनापतियों में बाँट दिया। औरंगजेब का यह चक्र न चला। तब उसने अकबर को लाने के लिये एक सेना भेजी। इससे अकबर बहुत त्रस्त हुआ; क्योंकि वह जानता था कि पिता के पास जाने पर उसकी कुशल नहीं है। उसको त्रस्त देख दुर्गादास ने उससे कहा—"आपके मरने जीने की जिम्मेदारी मेरे ऊपर है। बिना मुझे मारे बादशाह आपका रोम भी नहीं छू सकता।" दुर्गादास ने अजित की रक्षा का भार अपने बड़े भाई सोनगदेव को सौंपा और आप एक बड़ी राजपूत सेना लेकर दक्षिण की ओर गए।

औरंगजेब ने दुर्गादास का पीछा किया और चारों ओर से उनको घेर लिया। पर चतुर दुर्गादास ने उसे खूब छकाया और वे उत्तर की ओर एक सहस्र सैनिकों सहित निकल गए। औरंगजेब उनका पीछा करता हुआ झालौर पहुँचा। वहाँ पहुँच उसे अपना भ्रम मालूम हुआ। तब तो उसे बड़ा क्रोध उपजा। यहाँ तक कि उसने कुरान तक को उठाकर फेंक दिया। अनंतर उसने आजम को हुक्म दिया—"मैं उदयपुर फतह करने की गरज से यहाँ रहूँगा। तुम सब से

पहले राठौरों को निर्मूल कर अपने दुराचारी भाई को गिरफ्तार करो।"

उधर राठौरों के वीरानुष्ठान से मारवाड़ के सारे क्लेश दूर हो गए थे। औरंगजेब अजमेर पहुँचने के दस दिन के उपरांत, जोधपुर और अजमेर में सेना रख स्वयं आगे बढ़ा। परंतु "दुर्गा" नाम की महिमा के प्रभाव से सैकड़ों शत्रु खेत छोड़ भाग गए।

इसके अनंतर घटना-क्रम से अजितसिंह को जोधपुर की गद्दी मिली और वे मारवाड़ के अधीश्वर हुए। उधर शाहजादा अकबर भी पिता के विरुद्ध रहकर औरंगजेब का सामना करता रहा। अकबर के एक लड़की थी, जिसका नाम सुलतानी था। अकबर ने अपने परिवार की रक्षा का भार दुर्गादास को सौंप दिया था। दुर्गादास हिंदू थे। वे दूसरे की बहू-बेटी को अपनी बहू-बेटी के समान समझते थे। पर पापी औरंगजेब, जो दूसरों की बहू-बेटियों को पाप की दृष्टि से देखता था, सुलतानी के दुर्गादास के पास रहने से उसकी ओर से सदा चिंतित रहा करता था। उसको सुलतानी के छुड़ाने की चिंता रात-दिन सताया करती थी। वह कभी अजित को और कभी दुर्गादास को पत्र लिख सुलतानी को छोड़ देने का आग्रह किया करता था। अंत में दुर्गादास ने सुलतानी को औरंगजेब के पास भेज दिया। इसके बदले में औरंगजेब ने दुर्गादास को

पंजहजारी मनसबदारी देनी चाही। परंतु दुर्गादास ने उसे लेना स्वीकार न किया और उसके बदले में उन्होंने जालौर, सिवानची, साचैार और थिराद को माँगा। दुर्गादास ने सुलतानी की जिस यत्न और सम्मान से रक्षा की थी, उसे जानकर औरंगजेब ने दुर्गादास की बड़ी प्रशंसा की। किंतु कहा जाता है कि दुर्गादास का सुलतानी को औरंगजेब को लौटा देना और इसके बदले में उक्त परगनों का मिलना दुर्गादास के प्रति अजित के विरक्त होने का कारण हुआ था।

जो हो, इसके पूर्व दुर्गादास ने अजमेर के पास एक और भी वीरता का काम किया था। संवत् १७४७ वि० में सफीखाँ नामक एक मुसलमान अजमेर का सूबेदार नियुक्त हुआ। दुर्गादास ने उस पर चढ़ाई करनी चाही। सफी भी ससैन्य उनका सामना करने को पहाड़ की तलहटी के एक मैदान में खड़ा हुआ। दुर्गादास ने उसी जगह उस पर आक्रमण किया। दुर्गादास के आक्रमण को न सह सकने के कारण सफी को अजमेर की ओर भाग जाना पड़ा। इस की खबर औरंगजेब को लगी। उसने सफी को लिखा कि अगर तुम दुर्गादास को परास्त कर सकोगे, तो मुगल साम्राज्य में तुम्हें सब से ऊँचा पद दिया जायगा; और अगर तुम्हीं परास्त हुए तो तुम पदच्युत कर दिए जाओगे और तुम्हारी जगह शुजाअत भेजा जायगा। सफीखाँ बड़ी विपत्ति में पड़ा। उसने अपनी प्रतिष्ठा धूल में मिलते देख एक चाल चली। वह चाल यह थी कि उसने

अजित को एक बनावटी पत्र लिखा, जिसका आशय यह था —"आपको आपका पितृराज्य, जो अभी तक मुगल साम्राज्य के अंतर्गत है, लौटा देने की बादशाह सलामत से आज्ञा मिली है। अतएव आप यहाँ आकर वह सनद मुझसे ले जायँ।" इस पत्र के पाते ही अजित बीस हजार राठौर वीरों के साथ अजमेर की ओर प्रस्थानित हुआ। परंतु यह जानने के लिये कि कहीं सफी हमें धोखा देकर जाल में तो नहीं फँसाना चाहता है, अजित ने चंबात मुकुंद को आगे भेजा। पर्वत-श्रेणी के दूरस्थित संकीर्ण मार्ग के सामने पहुँचते ही मुकुंद ने शत्रु की दुरभिसंधि जान ली और लौटकर सारा हाल अजित से कहा। परंतु दुरभिसंधि का वृत्तांत सुनकर भी अजित तिल भर भी न डरे और अपने अनुगत सरदारों को संबोधन कर बोले—"सरदारो! जब हम अजमेर के इतने निकट आ पहुँचे हैं, तब एक बार अजय दुर्ग की सैर कर खाँ साहब की खातिरदारी भी कबूल करें।" और यह कह वे ससैन्य नगर की ओर बढ़े। उस समय अजित की वश्यता स्वीकार करने के अतिरिक्त सफीखाँ से और कुछ भी करते धरते न बन पड़ा। उसको खिझाने के लिये अजित की सेना के एक सैनिक ने कहा—"आओ, हम लोग इस नगर को फूँक दें।" यह सुनते ही नगर और अपनी रक्षा की चिंता से सफीखाँ काँपने लगा। अजित को राजी करने के लिये उसने बहुत सा धन और घोड़े आदि भेंट में दिए।

इसी प्रकार दुर्गादास जैसे स्वामिभक्त सरदारों की सहायता से अजित और उनकी नाबालगी में मारवाड़ के अन्य राजपूत सरदारों ने तीस वर्ष तक अनेक प्रकार से दिल्ली के सम्राटों को छठी का दूध याद करा दिया था। इस मारवाड़ी युद्ध में वीरवर दुर्गादास राजपूत चरित्र का एक अनुपम नमूना थे। वे जैसे वीर थे, वैसे ही चतुर थे; और जैसे चतुर थे वैसे ही स्वामि-भक्त और धर्मपरायण थे। उनकी असीम बुद्धि और विक्रम के प्रभाव से मारवाड़ की भूमि सर्वनाश से बहुत कुछ बच सकी थी। उन्होंने अपनी जान को हथेली पर रखकर और शिशु राजकुमार की रक्षा कर, अनुपम स्वामि-भक्ति का परिचय दिया था। अंत में उस भीषण समर-सागर को पार कर असंख्य विषम संकटों से अपनी मातृभूमि मारवाड़ का और अपने स्वामी यशवंत के एक मात्र वंशधर अजित का उद्धार किया था। औरंगजेब इस अतुल विक्रमी राठौर वीर से बहुत डरता था। इस संबंध की अनेक कहावतें प्रचलित हैं। उनमें से उदाहरण स्वरूप एक लिखी जाती है।

एक बार औरंगजेब ने अपने परम शत्रु शिवाजी और दुर्गादास के चित्र मँगवाए। एक चित्रकार दोनों के चित्र बनाकर दरबार में हाजिर हुआ। उन चित्रों में शिवाजी तो आसन पर बैठे हुए दिखाए गए थे और दुर्गादास अपने भाले की नोक में एक रोटी छेद कर, उसे आँच पर सेंक रहे थे। इन दोनों परम शत्रुओं का चित्र देखकर औरंगजेब ने चिल्लाकर कहा

था— 'मैं इस पहाड़ी चूहे को (अर्थात् शिवाजी को) जाल में बाँध सकता हूँ, परंतु यह कुत्ता (अर्थात् दुर्गादास) मेरा काल बनकर पैदा हुआ है।''

राठौर कवियों ने दुर्गादास की बड़ी प्रशंसा की है। उनका कथन है कि अगणित शुभ अनुष्ठानों से दुर्गादास ने अक्षय्य यश प्राप्त किया था। उनकी स्मृति को सब ने बड़े आदर के साथ अपने हृदय में स्थान दिया था। बल, विक्रम और साहस की प्रतिभा से पूर्ण उनकी कार्यावली की प्रशंसा प्रत्येक प्रांत में सुनाई पड़ती है। उनकी मूर्ति, वीरों की मूर्तियों में श्वेत अश्व पर सवार है। उनकी वह वृद्ध महा-वीर मूर्ति राजपूत जाति की वीरता का स्मारक और इतर वीरों के लिये आदर एवं सम्मान की वस्तु है।

इसमें अणुमात्र भी संदेह नहीं कि राठौर कवियों ने महात्मा दुर्गादास के प्रति जिन शब्दों का प्रयोग किया है वे ठीक हैं और दुर्गादास उनके सर्वथा योग्य पात्र हैं।